श्री धर्मपालजी (जन्म-काधला, मुजफ्फरनगर, १९२२) ने लाहौर में शिक्षा पाने के साथ स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया। मीरा बेन द्वारा रुड़की एवं ऋषिकेश के बीच स्थापित 'पशुलोक' एवं 'बापुग्राम' से सम्बद्ध रहने के बाद 'एसोसिएशन ऑफ वालण्टरी आर्गेनाइजेशन्स ऑफ रूरल डेवलपमेण्ट'(अवार्ड, दिल्ली) के महासचिव और निदेशक (१९५८-१९६४) रहे। फिर अखिल भारतीय पंचायत परिषद के शोध विभाग का कार्य देखते (१९६४-६५) रहे। वर्तमान में धर्मपालजी भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के सदस्य और राष्ट्रीय गौपशु आयोग के अध्यक्ष हैं।

श्री धर्मपालजी ने गत पचीस-तीस वर्ष अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में इतिहास द्वारा उपेक्षित भारतीय समाज की शक्तियों-कमियों की खोज करने में लगाये हैं और देश-विदेश के अभिलेखागारों-ग्रंन्थागारों से प्रभूत प्रमाण एकत्र किये हैं जिनसे अंग्रेजी शासन से पूर्व भारतीय समाज की एक ऐसी तस्वीर का पता चलता है जो आज के भारतीय मन में अंकित तस्वीर के सर्वथा विपरीत है।

श्री धर्मपाल के प्रकाशित ग्रन्थ हैं -

सिविल डिसओबीडिएन्स एण्ड इन्डियन ट्रेडीशन
इण्डियन साइन्स एण्ड टेक्नॉलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी
डेस्पोलियेशन एण्ड डिफेमिंग ऑफ इण्डिया
द मद्रास पंचायत सिस्टम
द ब्यूटीफुल ट्री
अंग्रेजों से पहले का भारत
भारतीय चित्त, मानस और काल
भारत का स्वधर्म
स्वदेशी और भारतीयता

अंग्रेजी की सभी पुस्तकें अभी हाल में अदर इण्डिया प्रेस, गोवा से पुनः प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी में भी शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही हैं।

: प्रकाशक :

भारत पीठम्

भारत का स्वधर्म

धर्मपाल

भारत का स्वधर्म

धर्मपाल

प्रकाशक
भारत पीठम

भारत का स्वधर्म

सर्वाधिकार लेखक के पास
इससे पूर्व यह पुस्तक वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर (HB संस्करण, 1994 में) से तथा नई आजादी प्रकाशन, इलाहाबाद (6000 प्रतियाँ, 1997 – 1999 के बीच) से प्रकाशित हुई है।

पुनर्प्रकाशन : मई २000 (2000 प्रतियाँ)
पुनर्प्रकाशन : मार्च २002 (2000 प्रतियाँ)
पुनर्प्रकाशन : जुलाई २002 (5000 प्रतियाँ)

प्रकाशक : भारत पीठम
चांडक निवास, शास्त्री चौक
बैचलर रोड, वर्धा–४४२००१
फोन – (०७१५२) ४२८५१, ८४४४१

मुद्रण : कॉन्फीसेक प्रिण्टर्स, अहमदाबाद

मूल्य : २० रुपये

"मानव जाति की विविध सभ्यताएँ रही हैं। इनके इतिहास और स्वरूप पर अनुसंधान का कार्य लगातार चलता रहता है। मुख्यतः तो हर समाज अपनी सभ्यता की स्मृति अपने ढ़ंग से जीवंत रखता है और यह स्मृति ही संस्कार, संकल्प, प्रेम तथा श्रेय के रूपों में आकांक्षा और सर्जना के विविध पुरुषार्थों का आधार बनती है। इस स्मृति का बने रहना ही किसी विचार और व्यवहार को अधिप्रमाणित करता है। स्मृतिरहित कथन या चिन्तन, अधिप्रमाण्यरहित कथन या चिन्तन हो जाता है। उसका वास्तविक बल रह नहीं जाता।"

"भारत को अब अपनी पुनर्योजना, सांस्कृतिक राजनीति को आगे रखकर, करनी होगी। इस पुनर्योजना में अर्थशास्त्र नियामक सिद्धान्त कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक सभ्यता में विविध अवधारणाओं की एक क्रम–व्यवस्था रहती है। किन्तु अर्थशास्त्र किसी भी सभ्यता में प्रमुख नहीं होता। अपनी सभ्यता से कटे हुए और यूरोपीय सभ्यता के मर्म से अनजान तथा उसके प्रति दास्य–भाव से भरे हुए भारतीय शासक वर्ग को ही अर्थशास्त्र प्रमुख दीखता है। यूरोपीय शासक वर्ग तो हमें अपनी सभ्यता का मानवीय संसाधन मानकर हमारे लिए अर्थशास्त्र को प्रमुख मानता है। अब हमें अवधारणाओं के प्रधान–गौण–क्रम का यह उलट गया बोध फिर से व्यवस्थित करना होगा, उसे सही क्रम में समझना और रखना होगा।"

स्वाधीनता से वंचित होने की चिन्ता

सादर स्मरणीय डॉ. छगन मोहता की स्मृति में हम सब यहाँ उस चिन्तन–परम्परा एवं जीवन–परम्परा के एक अंश के रूप में एकत्र हैं, जिसकी एक सबल अभिव्यक्ति उनमें हुई थी।

इस व्याख्यान माला के प्रथम वक्ता के रूप में उपस्थित होकर मैं अपने भीतर संकोच एवं गौरव, दोनों प्रकार के भाव उमड़ते अनुभव कर रहा हूँ। आप सब प्रबुद्ध लोगों के साथ, इन दो दिनों में मुझे अपने विचारों, अनुभवों, संशयों, जिज्ञासाओं और निष्कर्षों का साझा करने का सौभाग्य मिलेगा। भारतीय समाज, भारतीय मानस, भारतीय समाज व्यवस्था को तथा यूरोपीय समाज और वहाँ की व्यवस्था और मानस को, पिछले दो–ढाई सौ वर्षों में हुई इन दोनों टकराहटों को और उससे भारत पर पड़े विभिन्न प्रभावों को समझने का कुछ प्रयास मैं करता रहा हूँ। समय–मर्यादा के अन्तर्गत इन दो दिनों में मैं ऐतिहासिक तथ्य, उनकी वैचारिक पृष्ठभूमियों और उनसे निगमित अपने निष्कर्ष तथा जिज्ञासाएँ आपके सामने रखूँगा तथा उनको लेकर आपसे संवाद करुँगा। अपने पहले व्याख्यान में मैं स्वाधीनता से वंचित कर दिये जाने के अनुभव से भारतीयों में चले वैचारिक मंथन, प्रतिनिधि–रुपों पर और उनके द्वारा निकाले गये निष्कर्षों पर कुछ कहूँगा। इन विचारों और निर्णयों की आज के हमारे परिवेश, हमारे देश, हमारे समाज और राज्य की दशा तथा रचना में निर्णायक भूमिका है। हम आज भी उन्हीं के मध्य जी रहे दिखते हैं। इसी के साथ मैं उस तैयारी के बारे में कुछ संकेत दूँगा, जो अपने विश्व–विजय के अभियान के लिए ब्रिटेन ने किये तथा जो यूरोपीय मानस की पृष्ठभूमि रही। उस तैयारी की अवधि में ब्रिटेन का समाज किन आधारों पर संगठित था, शिक्षा, ज्ञान, प्रौद्योगिकी आदि में उसकी क्या स्थिति थी, इस पर भी कुछ प्रासंगिक चर्चा हो जायेगी।

अपने दूसरे व्याख्यान में मैं मुख्यतः इस पर विचार व्यक्त करुँगा कि यूरोपीयों से ऐसी टकराहट के पूर्व तथा अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हमारी समाज–संरचना, शिक्षा–व्यवस्था, विद्या–संस्थाएं, समाज–व्यवस्थाएं, राजतंत्र, धर्म–तंत्र एवं हमारे लोक मानस का तंत्र कैसा था। विज्ञान और प्रौद्योगिकी, श्रम–मूल्य–भुगतान तथा परस्पर मानवीय सम्बन्ध पर प्रकाश डालने वाली उस काल से सम्बन्धित सामग्री में से भी कुछ मैं आपके सामने इसी दूसरे

व्याख्यान में रखूँगा।

लक्ष्य क्या हैं और कौन–से हो सकते हैं और उनमें कुटिल पथ कौन–सा है और ऋजु पथ कौन–सा है, यह विचार करते रहने की अपनी परम्परा रही है। स्वयं वाणी को भी द्वार एवं पथ कहा गया है, अतः विचार एवं वाणी के स्तर पर हम पथ का अन्वेषण करें और उसी प्रक्रिया में कर्म–पथ की भी खोज होती चले, यही हमारे यहाँ प्रत्येक विद्या–प्रक्रिया का लक्ष्य रहा है। ऋग्वेद में 'ऋतस्य पन्था' यानी ऋत और सत्य के पथ की तथा 'अनृत–पथ' की बात है। उपनिषदों में भी बार–बार 'पथ' पद का प्रयोग है। आत्मज्ञान के रास्ते पर बढ़ रहे साधक की तुलना गाँधार–पथ पर पूछ–पूछ कर आगे बढ़ रहे पथ गवेषी से की गई है। ईशोपनिषद् की मुख्य प्रार्थना ही है कि हे चेतना–अग्नि! हमें सुपथ में प्रवृत्त रखो, जटिल पथों से दूर रखो। पथों की अनृतता की बात हमारे यहाँ कही गई है। अतः देश–काल और पात्र का विचार कर, अपने लक्ष्य या श्रेयस् का ध्यान रखते हुए ऋजु–पथ, ऋत–पथ की खोज हमारे यहाँ प्रत्येक विमर्श का और सह–चिंतन का उद्दिष्ट रहा है। हमारे लक्ष्य क्या हैं और उनकी प्राप्ति के सुपथ, ऋजु–पथ या श्रेयस्कर पथ क्या हैं, यह हमारे चिंतन का अभीष्ट है।

तीसरे व्याख्यान में अपने इस विमर्श का समापन भी इसी प्रकार रहेगा। इतिहास और वर्तमान का विचार और स्मरण करते हुए हमें भविष्य की संभाव्यताओं के बारे में सोचना होगा। भावी समाधानों की विवेचना करनी होगी। समाधानों और संभाव्यताओं का यह विचार, पथ के विचार की ओर ले जायेगा। हम किस पथ का वरण करें और क्यों? हमारे सामने कौन–कौन से पथ हैं ? उनमें से सुपथ या ऋजु–पथ कौन–सा है, कुटिल–जटिल पथ कौन–से हैं। किस पथ पर प्रस्थान करने पर क्या गति होगी या हो सकती है, इन सब पर हम संक्षेप में अंतिम क्रम में विचार करेंगे। अपने व्यष्टि–चित्त और समष्टि–चित्त, संस्कार और सामर्थ्य, परम्पराएं और कुंठाएं– इन पर विचार के साथ प्रासंगिक यूरोपीय सन्दर्भ सामने आयेंगे। आज की हीनता को गहराई से समझने पर उसे दूर करने के क्या उपाय या मार्ग हो सकते हैं, इसका विचार भी आयेगा।

मेरी बातचीत में कोई सुस्पष्ट एवं निर्णीत पथ–निर्देश होना सम्भव नहीं है। तथ्य, उनसे निगमित निष्कर्ष और जिज्ञासाएं, बहुत–से प्रश्न, बहुत–से वैचारिक द्वन्द्व, हम सबसे धीरता एवं सहचिंतन की अपेक्षा करती बौद्धिक व्यग्रता – यही सब इनमें से शायद निकलें। अपने वृहत् समाज से और अपनी समष्टि चेतना से, वृहत् ऋत से, विराट भाव से अपने सम्बन्ध की सम्यक् पहचान की व्यग्रता ही तो वास्तविक बौद्धिक व्यग्रता है। वह व्यग्रता हममें जाग्रत रहे तो

प्रशस्त पथ, सुपथ या 'ऋतस्य पन्थाः' भी हमारी प्रज्ञा में कौंधते रहेंगे, ऐसा आश्वासन हमारे पूर्वजों ने, हमारे अवतारों ने, हमारे देवता–गणों ने, हमारी दैवी शक्तियों ने दे रखा है। अतः उस श्रद्धा भाव के साथ ही यह विमर्श, यह संवाद आरम्भ करना चाहिए।

स्वाधीनता संग्राम के दिनों में गॉधीजी के नेतृत्व में एक सैनिक की भूमिका निभाते समय भारत की इस स्वाधीनता के छिन जाने के कारणों पर विचार भी हमारी उसी भूमिका का स्वाभाविक अंग था। महात्मा गॉधी ने सन् १९०९ ईस्वी में 'हिन्द स्वराज' लिखा था, जिसमें भारत और योरप की टकराहट को दो सभ्यताओं की टकराहट के रूप में देखा–बताया गया था। १९२० और १९३० ईस्वी वाले दशकों में गॉधीजी ने भारतीय समाज की दशा के बारे में और योरप, विशेषतः इंग्लैंड से विभिन्न क्षेत्रों में उसकी तुलना के बारे में प्रभूत सामग्री लिखी ही थी, अन्य लोगों ने भी ऐसी सामग्री बड़ी मात्रा में प्रकाशित की थी। उदाहरणार्थ 'यंग इंडिया' में ई. १९२० के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में ही गॉधीजी ने इन विषयों पर बहुत से लेख लिखे व प्रकाशित किये थे– १८ वीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध और १९ वीं शती ईस्वी के प्रारम्भ काल में स्वदेशी भारतीय शिक्षा की दशा, अंग्रेजों के आने के पूर्व की भारतीय सामाजिक जीवन दशाएँ और उनके प्रभुत्व–काल में बढ़ी भारतीय समाज की दरिद्रता और दुर्दशा, १८00 ईस्वी तक दक्षिण भारत में तथाकथित अन्त्यज लोगों (जिसमें दो चार जातियाँ ही आती थीं) की अथवा महाराष्ट्र में महारों की अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति जो ब्रिटिश आधिपत्य होने पर बिगड़ती चली गयी तथा अन्य ऐसे ही विषय। इन लेखकों में गॉधीजी के अनुयायी या प्रशंसक ही सम्मिलित नहीं थे। सर शंकरन नायर ब्रिटिश वायसराय की कौंसिल के एक सदस्य थे। वे तथा उन जैसे अन्य लोग भी इसी प्रकार से लिखने लगे थे। स्पष्ट है कि उस समय के पढ़े–लिखे लोगों के विविध समूह इन तथ्यों को जानते थे। सर शंकरन नायर ने ईस्वी १९१९ में लिखा था कि अन्त्यज आदि की सामाजिक आर्थिक दशा में मुख्य गिरावट विगत डेढ़–सौ वर्षों में ही हुई है तथा भारतीय समाज के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी उल्लेखनीय ह्रास इसी अवधि में हुआ। मेरा अनुमान है कि २० वीं शती ईस्वी के आरम्भ काल के अनेक समाचार पत्रों, पत्र–पत्रिकाओं, शोधपूर्ण गवेषणाओं, विशिष्ट विद्वानों की कृतियों, सृजनात्मक लेखकों–कवियों की रचनाओं आदि में इसी तरह की बहुत–सी सामग्री उपलब्ध हो जायेगी।

सम्भवतः यह हुआ कि ये सारी जानकारियाँ अब से ५0–६0 साल पहले सामने तो आई, लेकिन इस समय वे भारतीय समाज का एक समग्र चित्र

अंकित करने की दृष्टि से नहीं रखी गईं। शायद जिज्ञासा– वर्धक भाव से ही या ऐसे ढंग से ही ये बातें अधिकांशतः रखी गईं, जिनमें आज अति भावुकता दिखती हो।

परन्तु गॉधीजी ने १९०९ ईस्वी में ही 'हिन्द स्वराज' लिखा और हम सब भलीभॉंति जानते हैं कि उसमें तथा अपनी अधिकांश कृतियों में गाँधीजी ने सदा संतुलित रूप में भारतीय समाज एवं राजनीति–तंत्र की एक ऐसी समग्र छवि, एक ऐसा रूप–संकेत प्रस्तुत करने का उद्यम किया, जो कि उन्होंने इस समाज के सुदीर्घ अतीत से गतिशील जीवन के बारे में समझा था। हम यहाँ स्मरण करें कि 'हिन्द स्वराज' में असहयोग पर लिखते हुए गॉधीजी ने संकेत किया था कि यह परम्परा भारत की स्वाभाविक परम्परा है और यह भारत में सदा से विद्यमान रही है। इसके दृष्टान्त भी उन्होंने दिये। मेरा मानना है कि भारतीय बुद्धि एवं भारतीय समाज की क्रियाशीलताओं के स्वरूपों के बारे में अपने ऐसे बोध के कारण ही गॉधीजी सहजता से भारतीय बुद्धि एवं भारतीय समाज से संवाद कर सके, सहज वार्तालाप का सम्बन्ध रख सके तथा इसके कारण ही भारतीय जन गाँधीजी के सुझाए रास्ते को अपनाते रहे। १९४४ ईस्वी में गॉधीजी ने कहा भी था कि जब मैं भारत लौटा तो मैंने उन्हीं भावों और विचारों को अभिव्यक्ति दी, जो कि भारतीय अपने मन में स्वयं पहले से जानते थे और अनुभव करते थे। निश्चित ही, गॉधीजी के नेतृत्व में भारत जो कुछ कर पाया और प्राप्त कर सका, उसके मूल में गॉधीजी की भारतीय समाज से यह सहज एकात्मकता ही नहीं थी, उनकी संगठन–क्षमता तथा आध्यात्मिक व बौद्धिक सामर्थ्य भी इस सफलता व उपलब्धि का आधार रही।

वृहत् भारतीय समाज में अपनी समाज रचना, समाज व्यवस्था और राज व्यवस्था के बारे में यह बोध–परम्परा होते हुए भी और गाँधीजी द्वारा 'हिन्द स्वराज' में तथा अन्यत्र एवं दूसरे अनेक लोगों द्वारा 'यंग इण्डिया' समेत विविध स्थानों में, ब्रिटिश आधिपत्य से पूर्व के भारत के बारे में इतना सब कुछ लिखित साहित्य एवं साक्ष्य विद्यमान होते हुए भी, उन व्यक्तियों, समूहों और अंग्रेजों द्वारा रची गई उन समस्त व्यवस्थाओं में, अधिकांशतः जो आज भी हमारे बीच में है, उस बोध–परम्परा की स्मृति बहुत कम दिखती है। स्वाधीनता–संग्राम के बोध के अंग के रूप में लिखी गई तथा एकत्र और सुरक्षित रखी गई उस ऐतिहासिक तथ्य सामग्री की भी कोई चेतना या स्मृति इन व्यक्तियों के समूहों में कम ही दिखती है, जिनके ऊपर अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद, सत्ता–हस्तांतरण के द्वारा, स्वाधीन भारत के शासन का दायित्व आया। स्थिति

स्पष्ट है कि स्वाधीन होने पर भी, हमारी समस्त शासकीय व्यवस्थायें और उनके साथ समस्त आधुनिक अशासकीय प्रवृत्तियाँ, आज भी बहुत कुछ उसी संरचना पर आधारित हैं, जो संरचना–तंत्र अंग्रेजों ने सन् १७६० से १८३० ईस्वी के मध्य, भारतीय व्यवस्थाओं एवं संरचना–तंत्र को नष्ट करने के हेतु और उसी प्रक्रिया में रचे थे या फिर जो उन्होंने १८५७ ईस्वी के बाद अपने राज्य को भारत में और सुदृढ़ बनाने के लिए रचे थे।

यहाँ यह स्मरण किया जा सकता है कि सन् १९२० ई. तक भारत का राज्यकर्ता वर्ग या अभिजनों का महत्वपूर्ण हिस्सा अपने समाज से बौद्धिक एवं भावनात्मक स्तर पर असम्बद्ध हो चुका था और परकीयता अपना चुका था। इस वर्ग ने अंग्रेजों के आचार–व्यवहार को और बोली या अभिव्यक्ति की विधियों को अंगीकार कर लिया था तथा ब्रिटिश संकल्पनाओं या अवधारणाओं एवं जीवन–रूपों के अनुरूप अपने निजी एवं सामाजिक जीवन को ढालने के लिए अग्रसर था। स्पष्ट है कि महात्मा गाँधी के नेतृत्व वाले २५ वर्षों का काल–खंड भारत में विविध क्षेत्रों में संग्राम की दृष्टि से बहुत ही कम कहा जायेगा। यह भी सत्य हो सकता है कि जिन प्रमुख अभिजनों ने गांधीजी का नेतृत्व स्वीकार किया और उसके द्वारा राज–सत्ता एवं राजनैतिक सत्ता प्राप्त की, वे गाँधीजी की भारतीय समाज की समझ को बहुत गम्भीरता से नहीं ग्रहण करते थे और वे यह स्वीकार कर पाने में भी असमर्थ थे कि वैसा कोई भारतीय समाज आधुनिक विश्व में व्यवहार्य हो सकता है। इस राज्यकर्ता वर्ग के एक अधिक प्रबुद्ध और गाँधीजी के आत्मीय जनों में गिने जाने वाले सदस्य ने कहा ही था कि 'भला कोई यह कैसे कबूल कर सकता है कि गाँव के लोगों में भी कोई सद्‌गुण और सामर्थ्य है, वे तो बड़े मूर्ख लोग हैं।'

इसमें तो आज कोई संदेह नहीं है कि यह अभिजात वर्ग भारतीय अतीत को आत्मसात् नहीं कर सका और भारत का भविष्य उसके अनुरूप रचने की नहीं सोच सका। किन्तु यदि उसमें तनिक भी सृजनात्मक सामर्थ्य होता, तो वह उस जानकारी को तो आत्मसात् कर ही सकता था, जो उसने पश्चिम से ग्रहण की थी और फिर इस जानकारी या सोच को वह भारतीय प्रत्ययों एवं अभिव्यक्ति रूपों में ढाल सकता था। लेकिन यह वर्ग अब तक भी तो इसमें विफल ही रहा है। इस विफलता वाले विषय पर मैं अधिक कुछ कहना आवश्यक नहीं समझता। इस विषय पर पिछले दिनों में इसी तरह की बातें विस्तार से कही और लिखी गयी हैं तथा प्रसारित हुई हैं। 'नई शिक्षा नीति' नामक उस सरकारी नीति–विवरण में भी, जिसे देश भर में प्रसारित किया गया है, ऐसी ही

बातें कही गई हैं। लेकिन यह सृजनात्मक अक्षमता हमारे शक्तिशाली वर्ग या अभिजात वर्ग में ब्रिटिश काल में ही आई दिखती हो, ऐसा शायद नहीं है। ऐसा लगता है कि भारत के बहुत से क्षेत्रों में उससे बहुत पहले से यह अक्षमता घर कर चुकी थी। सुप्रसिद्ध आचार्य विद्यारण्य से प्रेरणा पा रहे विजयनगर राज्य में भी और स्वदेशी राज्य हेतु प्रेरणा देने वाले समर्थ गुरु रामदास से प्रेरित मराठों द्वारा १७ वीं शती ईस्वी के पूर्वार्द्ध में 'हिन्दवी स्वराज' की स्थापना के प्रयास में भी, राज्यकर्ता वर्ग ने बहुत सृजनात्मक सामर्थ्य नहीं दिखाया। अपने समाज और राजनीति–तंत्र (पॉलिटी) को ऐक्यबद्ध करने, साथ–साथ चलने, संवाद और विमर्श करने तथा कार्य करने की एकता उत्पन्न करने में ये दोनों ही राज्य कुछ अधिक सफल नहीं रहे। भाषाशास्त्रियों का कहना है कि शिवाजी के समय में मराठा क्षेत्र में फ़ारसी का प्रयोग बहुत बढ़ा–चढ़ा था। यहाँ तक कि शिवाजी के प्रारम्भिक काल में राजकाजी मराठी में सत्तर–अस्सी प्रतिशत शब्द फ़ारसी के होते थे। दक्षिण के १७ वीं शती ईस्वी के संस्कृत प्रहसनों में भी इसीलिए मराठों की भाषा पर व्यंग्य किया गया। छत्रपति बनने के बाद अवश्य शिवाजी की राजकाजी मराठी में फ़ारसी शब्दों की भरमार घटी और भाषायी स्वाभिमान की कुछ समझ बढ़ी। उस काल की मराठी में फ़ारसी शब्दों की संख्या २० से ३० प्रतिशत तक मानी जाती है।

सम्भवतः ऐसा ही होता हो कि प्रायः सभी सभ्यताओं में ऐसे अन्तराल आते हों, जब वृहत् समाज और राज्य के साथ के उसके सम्बन्ध छिन्न–भिन्न हो जाते हों अथवा निष्प्रभावी या व्यर्थप्राय हो जाते हों – या प्रसुप्ति की दशा में जा पड़ते हों। हो सकता है कि पिछली कई शताब्दियों से हम इसी दशा, ऐसे ही अन्तराल में जी रहे हों और शीघ्र ही वह समय आने वाला हो, जब भारत का राज्यतंत्र और राजनीति तंत्र (पॉलिटी) हमारे समाज की आकांक्षाओं एवं आवश्यकताओं को तो प्रतिबिम्बित करने ही लगे, साथ ही समाज के अपने व्यवहार–पथों, व्यवहार–विधियों एवं अभिव्यक्ति–विधियों को भी प्रतिबिम्बित करे, उन्हें सम्यक् प्रतिष्ठा दे।

यह भी संभव है कि यह प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी हो, जो निकट भविष्य में ही हमारे समाज और 'पॉलिटी' (राजनीति–तंत्र) के बीच के इस विखंडन को नगण्य सिद्ध कर दे और मेरी अधीरता शायद असम्यक् हो। जब हमने स्वाधीनता फिर से पा ली थी, उसी समय गाँधीजी ने किसी को लिखा था कि तत्काल बड़े परिणामों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए और १५० वर्षों की दासता से जर्जर भारत को पुनः स्वस्थ होने में कम से कम उससे आधे वर्ष तो लगेंगे ही।

तब भी, मेरी व्यग्रता का अंत नहीं दिखता। मुझे कुछ ऐसी अनुभूति होती है कि हमारा समाज और हमारा राजनीति–तंत्र, दोनों दो विलग–विलग विश्वों में परिभ्रमण करने लगे हैं, तो इसके कहीं गहरे और दार्शनिक हेतु हैं। कुछ ऐसा दिखता है कि समष्टिगत भारतीय मानस और उसके अंगभूत भारतीय व्यक्ति के निजी मानस की स्वाभाविक संरचना, संस्कार और बोध–प्रवृत्ति ही ऐसी है कि भारतीय जन स्वभावतः एक ऐसे विश्व में रहने को तैयार नहीं हो पाते, जिसमें विभिन्न मानव समूहों या विविध क्षेत्रों के लोगों के मध्य परस्पर वैर–भाव एवं युद्ध–स्थिति एक स्थायी लक्षण हो। इस विषय पर आधिकारिक रूप से निश्चित विचार व्यक्त करने की पात्रता मैं स्वयं में नहीं पाता। किन्तु यदि मेरी इस जिज्ञासा में और व्यग्रता में कुछ तत्व दिखें, तो हमारे विद्वज्जनों एवं प्रतिभाशाली नर–नारियों को इस ओर विचार करना चाहिए। हो सकता है कि ऐसी प्रक्रिया चल रही हो।

यदि भारतीय बुद्धि और मन की संरचना ऐसी है, तो स्पष्टतः इसके परिणाम दूरगामी और बहुअर्थी निकलते हैं। इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय मानस भी यदा–कदा लड़ाई–झगड़ों तथा अन्य उपद्रवों–अनिष्टों को जीवन का स्वाभाविक अंग मानता है। पर इसके साथ ही, वह वैर–भाव या युद्ध–भाव को नित्य मानने की कल्पना भी नहीं कर पाता। अंततः एक आंतरिक सौमनस्य स्थापित होकर शांति–लाभ होगा। सबका सह–जीवन, सह–अस्तित्व अपने सम्पूर्ण वैविध्य, समस्त बहुरूपता एवं रूप–भेद, गुण–लक्षण–क्रिया भेद के साथ अपने–अपने स्थान पर प्रतिष्ठित हो सकेगा, यह शायद भारतीय मानस का स्थायी भाव है। एक ऐसे संसार में जहाँ भारतीय शक्ति का निर्णायक प्रभाव हो अथवा कम से कम अपने बारे में भारत स्वावलम्बी एवं पर्याप्त समर्थ हो, पराजय की स्थिति न हो, यह स्थायी भाव एक उदात्त व्यवहार का आधार बनता है। किन्तु जब किसी ऐसी प्रबल शक्ति से सामना हो जाए जो वैर–भाव एवं युद्ध–भाव को शाश्वत मानवीय स्वभाव एवं कर्तव्य माने, अपने से अतिरिक्त अन्य प्रकार के जीवन–रूपों को नष्ट करने की या दूसरों को अधमरा करके अधीन बनाये रखने की योजना पर सतत् चले, तब स्थिति बदल जाती है। उस स्थिति में भी यदि पराजित, तेजहत भारतीय चित्त अपने समय और अपने सम्मुख उपस्थित संसार के इस स्थायी वैर–भाव को समझ पाने को तैयार न हो, तब उसका स्थायी शांति–भाव तेजहीन होकर एक तरह से स्वयं को ठगने का विचार–जाल रचता है। शायद भारतीय चित्त 'कबिरा आप ठगाइए और न ठगिए कोय' जैसे अध्यात्म–सूत्र की भ्रामक व्याख्या द्वारा इस दशा को उचित ठहराने का प्रयास

करने लगता है। ऐसे में अद्वैत बोध का स्थान एक भ्रांत अद्वैतवादी तर्क–जाल ले लेता है, अद्वैत दर्शन का सारतत्व विवेक–सिद्धि तब उपेक्षित कर दी जाती है। वस्तुतः भेद की सम्यक् पहचान के सामर्थ्य का ही नाम विवेक है। सत् और असत् में स्व और पर में, स्वधर्म और विधर्म में, धर्म और अधर्म में भेद करने का सामर्थ्य ही विवेक है। परमार्थतः अद्वैत जो सत्ता है, उसका ज्ञान इस भेद–बोधा सम्पन्न विवेक के बिना असम्भव है। विवेक के अभाव में अद्वैत ज्ञान नहीं होता, किन्तु अद्वैतवाद का शब्दजाल, जिसे आदि शंकराचार्य ने चित्त को भटका डालने वाला महावन कहा है, प्रबल हो उठता है। अद्वैत–बोध सात्विक तेज है, अद्वैतवाद तामसिक प्रमाद। पराजित समाज में जब अपनी विद्या–संस्थाएं नहीं रह जातीं, जब बोध की साधना का पथ विलुप्त हो जाता है और पंथ नहीं सूझता, चित्त–भूमि जब बाहरी खरपतवारों से संकुल हो उठती है, तब अद्वैतवादी प्रमाद अपने समय के संसार के सत्य को जानने में बाधक बनता है। यह स्वाभाविक ही है। तब न तो परायी विद्या–संस्थाओं का मर्म आत्मसात् करने योग्य बौद्धिक स्फूर्ति बचती है, न ही अपनी विद्या–परम्पराओं की पुनर्रचना का बल और साहस। पराजित भारतीय चित्त शायद इसी हीनता से ग्रस्त है। हीनता की दशा में प्रमाद और सृजन–विमुखता से उपजी अद्वैतवादी भ्रांति अपनी परम्परा का ही प्रसार दीखने लगती है। शायद प्रत्येक संस्कृति की विकृति का भी अपना ही विशिष्ट स्वरूप होता है। प्रमादपूर्ण अद्वैतवाद से भरे मानस में संसार को ठीक से जानने के प्रति अनिच्छा का उभार हो जाना विशिष्ट भारतीय विकृति है। अन्य संस्कृतियों की विकृतियाँ भिन्न प्रकार की होती है। हमारी विकृति इसी आत्महीनता से भरे प्रमाद के रूप में है।

पराजित भारतीय चित्त की बात उठने पर, उसके स्वरूप को तथा पराजय से उभरने की उसकी सतत चेष्टाओं के इतिहास को स्मरण करना आवश्यक है। इसके लिए मुझे यह उचित लगता है कि कुछ प्रतिनिधि घटनाओं तथा बिन्दुओं का सांकेतिक स्मरण किया जाए। इस्लाम के अनुयायियों से हजार वर्ष लम्बे समय तक सम्बन्ध होते हुए भी इस्लाम के स्वरूप को भी बौद्धिक स्तर पर समझने का कोई प्रयास भारत में पिछले दो सौ–तीन सौ वर्षों में भी नहीं हुआ दिखता। यह सही है कि इस्लाम अनुयायियों के आक्रमण से अधिकांश भारत पराजित नहीं हुआ, संघर्षरत ही रहा और अपने ढंग से इस्लाम को आत्मसात् करने की भी चेष्टा में लगा रहा। भारतीय समाज के पास ११ वीं शती से १७ वीं शती ईस्वी तक लगातार संग्राम और बलिदान के उपरान्त भी उल्लेखनीय शक्ति बची रह गई। संग्राम के क्रम में भारतीय समाज को बीच–बीच

में उल्लेखनीय सफलताएँ भी मिलीं। विजयनगर राज्य और मराठों का प्रसंग पहले आ चुका है। किन्तु अपना राज्य भिन्न एवं विपरीत प्रकार के विचारतंत्र के प्रति क्या बौद्धिक व्यवहार करे, इस पर पर्याप्त गहरा शास्त्रार्थ विजयनगर राज्य में भी नहीं हुआ। जो सांस्कृतिक–केन्द्र, विद्या–केन्द्र नष्ट कर देने वाली शक्तियाँ हैं, उन्हें मात्र प्रत्यक्षतः पराजित कर, अपने क्षेत्र भर में मर्यादित रखके, क्षेत्र के चारों ओर वैर–भाव से परिपूर्ण वैचारिक आक्रामकता को यों ही रहने देना है या उससे वैचारिक संवाद करना है, इस पर विगत एक हजार वर्षों में कभी कहीं पर्याप्त गहरा विमर्श हुआ हो, इसके अभी तक सूत्र नहीं मिले हैं। 'खुदा' और 'ईश्वर' की, एकपंथवाद और सर्वपंथ–मान्यता की अवधारणाओं में तात्विक अंतर क्या है, और एकता का आधार क्या है, इस पर आध्यात्मिक–बौद्धिक विमर्श न आचार्य विद्यारण्य के संरक्षण में या नेतृत्व में कहीं हुआ, न ही समर्थ गुरु रामदास के। पंचदशी और दास–बोध को पढ़ने पर यह रंचमात्र नहीं पता चलता कि इस्लाम की किन्हीं आधारभूत अवधारणाओं की कोई चुनौती समझी जा रही है। वह सजगता होती तो विदेशी भाषा के कितने शब्दों को और किन विचारों को आत्मसात् करना है और क्यों करना है, मनुष्य के रूप में कहाँ उनसे हमारी एकात्मता है तथा एक भिन्न सांस्कृतिक प्रजाति या समाज के रूप में कहाँ नितान्त विरोध, विभेद या विपरीतता है, क्या ग्रहण करना धर्म है, क्या अधर्म, किन–किन रूपों में प्रतिरोध व स्वाधीन सृजन–साधना धर्म है, आदि विषयों पर विस्तृत विचार होता जैसे कि उन दिनों इस पृथ्वी पर अन्यत्र हो रहा था। अपने यहाँ महाभारत में विविध स्थलों में भिन्न–भिन्न देशों के निवासियों के स्वभाव व विशेषताओं का कुछ वर्णन है। ब्रह्म पुराण और स्कंध पुराण में भी कुछ ऐसे ही प्रसंग है। विश्व के नए घटनाक्रमों और एकपंथवादी समूहों के अभूतपूर्व विस्तार के सन्दर्भ में इस भेद विवेचन को और विस्तार तथा गहराई देना ही स्वाभाविक होता। अपने उन दिनों के राष्ट्रीय अनुभवों के सन्दर्भ में यह आवश्यक था। पर ऐसा कुछ अपने यहाँ उन दिनों हुआ नहीं दिखता। समाज में तो भावोद्वेलन, प्रतिरोध भाव, प्रतिशोध–भाव आदि देखने को मिलते हैं, किन्तु राजनीति–तंत्र के शीर्ष जनों में ये भाव पर्याप्त नहीं दिखते।

अठारहवीं शती ईस्वी के आरम्भ में औरंगजेब की १७०७ ई. में मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य समाप्त हुआ, ऐसा माना जा सकता है। शिवाजी के राज्य अभिषेक से लेकर १७५० ई. तक मराठे ही भारत की सबसे शक्तिशाली व विस्तृत राज्य शक्ति थे। लेकिन इन्हीं दिनों में योरपीय भारत में प्रभाव बढ़ाने लगे। १७५० ईस्वी में अरकाट की लड़ाई से उन्होंने अपनी शक्ति निर्णायक रूप

में बढ़ानी शुरू की। १८०० ईस्वी तक प्रायः समस्त भारत पर उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभुत्व हो गया। इसके उपरांत यह मानना कि सन् १८५७ ई. तक भारत की अपनी स्वतंत्र सत्ता कहीं रही, निराधार और निरर्थक है। सन् १८०३ ईस्वी तक हमारा प्रभावशाली वर्ग मानसिक पराजय स्वीकार कर चुका था। इस वर्ग का एक महत्वपूर्ण अंश उत्साहपूर्वक ब्रिटिश जीवन–पद्धति, ब्रिटिश विचार–पद्धति, एवं अभिव्यक्ति–पद्धति को ऐसे अपना रहा था, मानो वह बौद्धिक दारिद्र्य से ग्रस्त हो, उसके पास न अपनी प्रभा हो, न प्रतिभा, न प्रतिमान। बाहरी विचार और व्यवहार को किस रूप में लेना है, उसका सम्पूर्ण समाज पर क्या–क्या प्रभाव पड़ेगा, उस प्रभाव को कैसे संतुलित रखना तथा अर्थवान बनाना है, इस पर कोई शास्त्र–चिंतन, कोई सृजनात्मक प्रयास नहीं दिखते। जो ले रहा है, उत्साह से ले रहा है। वृहत् समाज तिरस्कार से यह देख रहा है। विखंडन की यह स्थिति स्पष्ट दिखती है।

ऐतिहासिक राजनैतिक घटनाओं को समझने के प्रति राजनीति तंत्र के शीर्ष जनों में या तो प्रमाद और उपेक्षा–भाव दिखता है, या फिर एक अस्पष्ट अपेक्षा–भाव। हमारे प्रतिभाशाली लोग समकालीन राजनीतिक घटनाओं को किस रूप में देख रहे थे इसका एक उदाहरण हैं राममोहन राय।

कहा जाता है कि बचपन में अपने साथ घटी घटनाओं के कारण उन्होंने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और हुगली जिले से पटना जा पहुँचे। वहाँ फ़ारसी और अरबी का अध्ययन किया। अरबी विज्ञान और दर्शन पढ़ा। यूनानी चिंतकों के अरबी अनुवाद पढ़े। हाफ़िज़, रूमी आदि की शाइरी पढ़ी। फिर कुछ साल बनारस रहे। वहाँ उपनिषद् और गीता पढ़ी। फिर मुर्शिदाबाद जाकर अरब की विद्या पढ़ने लगे। वहीं अपनी पहली पुस्तक 'तुहफत–उल–मुवहिदीन' फ़ारसी में लिखी, जिसमें एकपंथवाद का घनघोर समर्थन किया। इसकी भूमिका अरबी भाषा में थी। तदुपरान्त ब्रिटिश राज में नौकरी की। १८१४ ईस्वी में कलकत्ता पहुँचे। वहीं ईसाई साहित्य पढ़ा और हिब्रू, लैटिन और यूनानी भाषाएँ सीखीं। और फिर एक यूनिटेरियन मिशन प्रेस, सभाघर, पुस्तकालय आदि बनवाया व 'द प्रिसेप्ट्स आव जीसस', 'अपील टु द क्रिश्चियन पब्लिक', 'द आइडियल ह्यूमैनिटी आव जीसस' आदि पुस्तकें प्रकाशित कीं। अंग्रेजी की शिक्षा के देशव्यापी प्रचार के लिए वातावरण बनाने में लगे रहे और अंत में ब्रह्म समाज की स्थापना की, जिसका मुख्य लक्ष्य था मूर्तिपूजा की परम्परा पर तीव्रतम प्रहार करना। साथ ही उन्होंने देशभर में एकपंथवाद की स्थापना के लिए अत्यधिक श्रम किया। आधुनिक अभिजनों ने उनमें 'रेनेसाँ' का नव–प्रवर्तक

देखा।

यहीं पर बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय का स्मरण प्रासंगिक है। बंकिम ने 'आनन्दमठ' जैसे उपन्यास लिखे और संन्यासी–विद्रोह जैसी राजनैतिक घटनाओं की मीमांसा की। प्रसिद्ध राष्ट्रगीत वंदेमातरम् रचा। उन्हीं बंकिम की अंग्रेजी राज के बारे में यह व्याख्या थी कि वह दैवी इच्छा से भारत के शुभ के लिए ही आया है। यह बोध उस काल–खंड का है, जब अंग्रेज भारत की समाज–रचना, कृषि, शिल्प, प्रौद्योगिकी, विद्या–संस्था आदि को देशभर में नष्ट कर चुके थे। लेकिन जन–जीवन का व्यापक क्षय और विनाश करने वाला ब्रिटिश राज ऐसे शक्तिशाली लोगों को पूर्ववर्ती इस्लामी त्रास से मुक्ति दिलाने वाले वरदान के रुप में दिख रहा था। ये सब भारत के मेधावी नागरिक थे। देशभक्ति और संस्कृति–रक्षा की भावना इनमें कम नहीं थी। किंतु वृहत् सामाजिक जीवन के विध्वंस का या तो इन्हें पर्याप्त ज्ञान नहीं था, या फिर वह विध्वंस इन्हें अपनी या अपने जैसों की निजी क्षति न होने के कारण उतना पीड़ाप्रद नहीं लगता था। निजी अनुभव, निजी दैहिक–मानसिक स्तर पर भोगा हुआ यथार्थ ही इन्हें सामाजिक यथार्थ का पर्याप्त प्रतिनिधि दृष्टांत लगता था। वृहत् समाज के दुःखों का राजनैतिक ऐतिहासिक सन्दर्भ पहचानना उन्हें आवश्यक नहीं लगता था। सब परम्परागत अर्थ में विरक्त भी नहीं थे। क्योंकि परम्परा में तो गुरुतम निजी दुःख से भी विचलित न होने का आदर्श रहा है, जबकि ये सब निजी दुःखों के दारुण अनुभवों से ही महत्वपूर्ण सामाजिक निष्कर्ष निकालते दिखते हैं।

स्वामी विवेकानंद का व्यक्तित्व कई अर्थों में इससे भिन्न था और प्रतिभा, शास्त्र–ज्ञान एवं संवेदना में भी वे अधिक उन्नत थे। अतः उनका स्मरण बहुत आवश्यक और महत्वपूर्ण है। हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति के वे समर्थ प्रवक्ता संन्यासी बने और शायद आज सबसे अधिक पुस्तकें जिन आधुनिक भारतीय विचारकों की पढ़ी जाती हैं, उनमें प्रमुख हैं विवेकानन्द और महात्मा गाँधी।

हम स्वामी विवेकानन्द में गहरा और उत्कट देशप्रेम व्याप्त पाते हैं। शास्त्रों का ज्ञान भी उन्हें था ही। श्री रामकृष्ण परमहंस के वे सर्वप्रमुख शिष्य थे। श्री रामकृष्ण का शरीरान्त १५ अगस्त, १८८६ ईस्वी को हुआ। २६ मई १८९० को स्वामी विवेकानन्द ने वाराणसी के श्री प्रमदादास मित्र को एक लम्बा पत्र लिखा। उसमें कहा........ 'यह निश्चय ही अपराध हो गया कि भगवान श्री रामकृष्ण परमहंस के शरीर को चिताग्नि में समर्पित कर दिया गया, जबकि उसे समाधिस्थ किया जाना उचित होता।......उनके राख–फूल सुरक्षित हैं। अच्छा हो, यदि

वे पवित्र गंगा तट पर जहाँ पर वे साधना किया करते थे वहीं स्थल निर्मित कर सुरक्षित भूमिस्थ कर दिये जायें, इससे उस अपराध का कुछ मार्जन हो जायेगा। उन अवशेषों की, श्री परमहंस के आसन की एवं चित्र की पूजा मठ का नित्य नियम है। ब्राह्मणवंशीय एक संन्यासी रात–दिन इसी कार्य हेतु नियुक्त है। पूजा का खर्च दो महान् भक्तों द्वारा उठाया जाता है।......कितनी पीड़ा की बात है कि उनकी स्मृति के लिए अभी तक बंगाल से धन नहीं एकत्र हो सका, जिनके जन्म से यह बंगाली जाति पवित्रहो गई है और जो पश्चिमी संस्कृति के सांसारिक आकर्षण से भारतीयों को बचाने के लिए पृथ्वी पर आए तथा इसीलिए जिन्होंने अपने अधिकांश संन्यासी–शिष्य विश्वविद्यालयों से चुने।

'..स्मृति–स्थल हेतु अपेक्षित भूमि लगभग पांच–सात हजार रुपयों में मिलेगी। फिर उस पर कुछ आश्रम बनाना होगा। ....श्री रामकृष्ण के संन्यासी–शिष्यों के मित्रों और संरक्षकों में से एक मात्र अब आप ही हैं। संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में आपकी प्रसिद्धि है, पद है, और परिचय–क्षेत्र है। आप इस कार्य को उचित मानें तो इसके लिए धन एकत्र करने की कृपा करें। मैं आपके साथ द्वार–द्वार चलकर इस श्रेष्ठ कार्य हेतु भिक्षा–याचना को उद्यत हूं। उसमें तनिक भी लज्जा कैसी? ....शायद आप कहें कि संन्यासी को इच्छाएँ क्यों? मेरा उत्तर होगा, भगवान श्री रामकृष्ण परमहंस का नाम, उनका जन्म–स्थल एवं साधना–स्थल विश्व में सर्वत्र प्रसिद्धि पाए, इसके लिए मैं चोरी–डकैती तक करने को तैयार हूँ, क्योंकि मैं उनका सेवक दास हूँ, मैं इस स्मृति स्थल के निर्माण हेतु ही कलकत्ता लौटा हूँ। ......अगर आप कहें कि स्मारक काशी में हो, तो निवेदन है कि उन्होंने साधना तो यहीं कलकत्ते में गंगा–तट पर की थी।......मेरी बुद्धि के अनुसार, कुलीन घरों के ये अच्छे, सुशिक्षित मेरे साथी युवा संन्यासी यदि श्री रामकृष्ण के आदेशों को पूर्ण करने हेतु जीवन समर्पित करने पर भी उस कार्य में आश्रय और सहायता के अभाव में विफल रहें तो यह हमारे देश का दुर्भाग्य है।'

प्रमदादास मित्र ने इसका निराशाजनक उत्तर दिया। स्पष्टतः इससे विवेकानन्द को असह्य वेदना हुई। वेदना की बात भी थी। निस्सन्देह तब तक बंगाल दरिद्र और कंगाल किया जा चुका था, परन्तु इतनी कम धनराशि उस व्यक्ति के स्मृति–स्थल हेतु न जुट पाये, जिसके पास केशवचन्द्र सेन, गिरीशचन्द्र घोष, ईशान चन्द्र मुखोपाध्याय, बलराम बोस, शम्भुनाथ मल्लिक, मणिमोहन मल्लिक जैसे सम्पन्न लोग आते–जाते थे, तो यह प्रसंग आर्थिक दारिद्रय का नहीं, वैचारिक दारिद्रय का ही दिखता है। या तो यह बात सही नहीं है कि

बंगाल में श्री रामकृष्ण परमहंस की ख्याति उनके जीवन–काल में ही दूर–दूर तक फैल चुकी थी, और शायद ऐसा रहा हो कि १५–२० युवाओं के सिवाय उनके सच्चे प्रशंसक लगभग नगण्य थे, या फिर यह पूरी तरह बौद्धिक आध्यात्मिक दारिद्र्य की दशा का फल है कि इतनी सी धनराशि न जुट पाये।

इस दुर्दशा ने विवेकानन्द को हिला दिया। उन्हें लगा कि क्या अब इस देश के भीतर से स्वतः कुछ नहीं हो सकेगा? तो वे इस देश को जानने को निकल पड़े। परिव्राजक, यायावर, संन्यासी विवेकानन्द निरन्तर घूमते रहे। सर्वत्र उन्हें प्रेम मिला, श्रद्धा मिली। किन्तु बस अधिक ठोस सहायता नहीं। फिर वे कन्याकुमारी की सुप्रसिद्ध विवेकानन्द शिला पर ध्यानस्थ हुए। ध्यान का उनका सुदीर्घ साधना–क्रम था। वहाँ भी अद्वितीय अनुभूति हुई। कुछ ही दिनों बाद लगा ......श्री रामकृष्ण परमहंस समुद्र के बीचोबीच हैं और बुला रहे हैं। वह विदेश यात्रा का संकेत बना। शिकागो विश्वधर्म सभा वस्तुतः स्वामी विवेकानन्द के विदेश जाने का कारण न थी। कारण उससे कहीं बहुत बड़ा, बहुत गहरा और बहुत अलग था। योरप–अमरीका की समृद्धि देखी। संगठन देखा। शक्ति देखी। प्राणवत्ता देखी और बहुत प्रभावित हुए। उन प्रभावों के ओजस्वी, उत्साहमय, भावपूर्ण, काव्यात्मक वर्णन उनके पत्रों में है। उन पत्रों में प्रगाढ़ देशप्रेम, देश के वैविध्य की समझ, लोक व्यवहार की समझ भी है और अंतः–बाह्य दारिद्र्य का दुःख भी। धर्म के मामले में वे अमरीकियों को अव्यावहारिक बताते हुए ६ मार्च १८६५ को अमरीका से अलासिंघा पेरूमल को लिखते हैं – 'धर्म में मात्र हिन्दू व्यावहारिक है, यांकी (अमरीकी) लोग धन कमाने में व्यवहारपटु हैं। इसी से मैं यहाँ कुछ निश्चित पाकर ही लौटना चाहता हूँ। ....धीरे– धीरे शुरू करो, अपना आधार पहचानो और बढ़ो, बढ़ते जाओ, मेरे वीर बच्चो! एक दिन हमें प्रकाश दिखेगा।' भारतीयों को दी गई उनकी प्रेमपूर्ण धिकृति में गहरी पीड़ा है, ममत्व है, प्रेम है। उनके निजी अनुभवों से निकला निष्कर्ष यह है कि भारत का उद्धार तभी सम्भव है, जब इसकी सेवा हेतु बाहर से समर्पित व्यक्ति आएँ और बाहर से धन आए। इस प्रकार मुख्यतः विदेशी धन से रामकृष्ण मिशन का प्रारम्भिक विकास होता है।

श्री रामकृष्ण परमहंस को वे क्षण भर भी नहीं भूलते। किन्तु व्यवहार–कुशल बुद्धि से वे देखते हैं कि कहाँ किस तरह का संवाद अर्थमय होगा, सम्प्रेष्य होगा। अतः पश्चिम में वे तर्कपूर्ण प्रतिपादनों से श्री रामकृष्ण की विचारधारा का प्रसार चाहते हैं। सन् १८६५ में ही अपने एक गुरु भाई को लिखे पत्र में वे स्पष्ट कहते हैं – 'वास्तविक वस्तु है श्री रामकृष्ण द्वारा सिखाया गया

धर्म। हिन्दू उसे हिन्दू धर्म कहे, तो कहने दो। दूसरे उसे अपने ढंग से पुकारेंगे। हमें शनैः शनैः पंथ पर बढ़ना है। ....मुझे लौटने को कहने से लाभ नहीं। यहाँ किया गया थोड़ा सा कार्य भारत में कई गुना प्रभाव उत्पन्न करेगा। फिर यहाँ के लोग धनी हैं और साहसपूर्वक देते हैं। हमारे यहाँ तो न धन है, न दानशीलता का यह साहस।' २६ सितम्बर १८६४ को अलासिंघा पेरूमल को वे लिखते हैं, 'हमारा कार्यक्षेत्र भारत है। .....हमें अपना सुदृढ़ आधार बनाना है। क्षण भर भी मन्द मद पड़ो ।......हिन्दू समाज मात्र आध्यात्मिक लोगों के लिए संगठित है तथा औरों के प्रति कठोर व्यवहार करता है। ऐसा क्यों ? जो संसार के सुखों का कुछ उपभोग करना चाहते हैं, वे कहाँ जाएँ ? समाज में इन सबका भी स्थान होना चाहिए। ....पहले धर्म के सच्चे सिद्धान्तों को समझना होगा। फिर उन्हें समाज में क्रियान्वित करना होगा।'

६ अप्रैल १८६७ के अपने पत्र में वे 'भारती' की विदुषी सम्पादिका सरला घोषाल को लिखते हैं – 'मैं सदा से यह मानता रहा हूँ कि हमारा उत्कर्ष तब तक न हो पायेगा, जब तक पश्चिमी लोग हमारी सहायता के लिये आगे नहीं आते। हमारे इस देश में गुणों का सम्मान नहीं है, धन की शक्ति नहीं है और सर्वाधिक शोचनीय यह है कि तनिक–सी भी व्यवहार बुद्धि नहीं है। ....मैंने अपने अल्प जीवन में भी यह अनुभव किया है कि श्रेष्ठ अभिप्राय, संकल्प, निष्ठा और अगाध–अनंत प्रेम से विश्व–विजय संभव है। इन गुणों से सम्पन्न एक अकेली आत्मा करोड़ों पाखंडियों और जड़ क्रूरबुद्धियों के तमसावृत्त संकल्पों को विनष्ट कर सकती है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि पश्चिम से व्यक्तियों और धन के आये बिना हमारा कल्याण असम्भव है।' इस प्रकार, विवेकानन्द पश्चिम से धन लाए और व्यक्ति लाए – इन्हीं में थी मार्गरेट नोबुल, यानी भगिनी निवेदिता। हम पाते हैं कि भगिनी निवेदिता महान वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु की वैज्ञानिक पुस्तकों के सम्पादन में सहायता करती है, बृजेन्द्र नाथ सील की रचनाओं के अनुवाद में भी। ऐसे तथ्यों से कम से कम, हमारे भद्रलोक हमारे अभिजात वर्ग के बारे में यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने समाज की प्रतिभा व शक्ति को पहचानने और आगे बढ़ाने का सामर्थ्य वे खो चुके हैं। विश्व का कोई भी स्वस्थ समाज अपने महत्वपूर्ण मौलिक सृजनात्मक कार्य विदेशियों की सहायता से सम्पन्न नहीं किया करता।

जहाँ तक धन की बात है, हम पाते हैं कि सोलहवीं शती के आरम्भ से सत्रहवीं शती ईस्वी के अन्त तक उत्तर भारत में कबीर, रैदास, दादू आदि सन्तों को सम्पन्न शिष्य मिलते हैं। तुलसीदास को अवश्य अपने ही पंडित

बन्धुओं से सर्वाधिक प्रताड़ना सहनी पड़ती है। पर साथ ही उन्हें व्यापक सहयोग भी मिलता है। अपार लोकप्रियता मिलती है। किन्तु राजाओं और सम्पन्न जनों द्वारा गुरु भाव रखे जाने पर भी इन सन्तों के पास ऐसे पर्याप्त साधन स्रोत पहुँचे नहीं दिखते जिनसे वे दक्षिण भारत के मन्दिरों जैसे किसी भव्य विद्या केन्द्र या संस्कृति केन्द्र का निर्माण करा सकें। लगता है कि उस अवधि में ही हमारे सम्पन्न और शक्तिशाली वर्ग की प्राथमिकताएँ वृहत् समाज से अलग बन चुकी थीं। वृहत् समाज ने अवश्य इन सन्तों को यथाशक्ति सहयोग दिया, साधन दिए। सम्भवतः इसका कारण यही था कि तब तक वृहत् भारतीय समाज के पास कुछ साधन–स्रोत बच रहे थे। अंग्रेजों ने उनका सुनियोजित विनाश किया। देश के जन साधारण में तो मौलिक दारिद्र्य बढ़ता ही गया किन्तु नए अभिजात वर्ग के पास कुछ धन व शक्ति तो रही ही होगी। लेकिन ऐसा लगता है कि यह वर्ग मानसिक दारिद्र्य से त्रस्त और मलिन हो गया था, जिसका अनुभव विवेकानन्द को हुआ।

विवेकानन्द से तत्काल पूर्व तेजस्वी स्वामी दयानन्द को आवश्यक साधन–स्रोत एवं जनाधार मिला था। वेदों के गहरे अर्थों की तेजस्वी व्याख्या और उनकी परम प्रामाणिकता का प्रतिपादन करने के साथ–साथ ही स्वामी दयानन्द ने गौ–रक्षा आंदोलन को भी भरपूर समर्थन तथा सहयोग दिया। किन्तु साथ ही व्यापक हिन्दू समाज की समकालीन सांस्कृतिक बुद्धि के प्रति उनमें एक गहरे दुःख का भाव भी था। प्रतिमा–पूजन के खंडन में उन्हें भारतीय समाज की शक्ति दिखती थी। मूर्ति–पूजन और एकपंथवादी कठोर पंथानुशासन के मध्य आधारभूत अन्तर क्या है, यह वे शायद कभी पहचान नहीं पाये।

विवेकानन्द और दयानन्द जैसे लोगों में भारतीय समाज के प्रति ममत्व का प्रेम था। विवेकानन्द में तो भारतीय नर–नारियों पर बहुत गहरा विश्वास भी था। किन्तु देश के बारे में जो छवि, जो प्रतिमा नवप्रबुद्ध वर्ग ने रच दी थी, उसके प्रभाव से ये प्रसिद्ध और प्रतिभाशाली लोग भी बच नहीं पाए।

देश की वह प्रतिमा परम्परागत नहीं थी, न ही भारतीय इतिहास के तथ्यों के अनुरूप थी। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में वह प्रतिमा अंग्रेजों द्वारा और उनकी प्रेरणा से परिश्रमपूर्वक गढ़ी गई। बंगाल के नवप्रबुद्धों ने इसमें बहुत आगे बढ़कर भूमिका निभाई। संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की भी पढ़ाई हो, इसका राममोहन राय जैसों ने प्रचंड विरोध किया। उनका मत बन गया था कि ये भाषाएं मात्र स्मृति की, अतीत के ज्ञान की वाहक हो सकती हैं। पश्चिम का ज्ञान तो पश्चिम की भाषा से ही प्राप्त

हो सकता है। यह एक अनोखी मान्यता थी कि स्वयं पश्चिम तो, भारत का और पूर्व का ज्ञान अपनी ही भाषा में प्राप्त करे, परन्तु भारत को पश्चिम का ज्ञान पश्चिम की ही भाषा में सीखना होगा। इस आग्रह के पीछे निश्चय ही भारतीय भाषा, भारतीय बुद्धि, भारतीय जन के प्रति एक हीनता का भाव रहा। यह भारत के प्रति किसी द्वेष या द्रोह की बात नहीं है। अपितु भारत के प्रति ऐसे बोध को आत्मसात् कर लेने की दशा है, जिसमें भारत को विश्व के अन्य समाजों से विशेष हीन, विशेष पतित और निकृष्ट मानने का आग्रह है। इस बोध की अभिव्यक्ति हम उन दिनों के अनेक प्रसिद्ध लोगों के कथनों में पाते हैं।

केशवचन्द्र सेन ने भारत के बारे में ब्रिटेन में ही कहा– 'यदि आप आज भारत को देखें, तो आप पायेंगे – दूर–दूर तक फैली मूर्ति–पूजा, एक ऐसी जाति व्यवस्था जैसी और कहीं नहीं मिलेगी, जिज्ञासारहित प्रकृति वाली सामाजिक और पारिवारिक संस्थाएँ तथा अत्यन्त जुगुप्साजनक सीमा तक विद्यमान अज्ञान, पूर्वग्रह, दोष और अन्धविश्वास।' रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने सन् १६00 के आसपास लिखा – 'अस्तित्व के आन्तरिक सत्य से सम्बन्ध विच्छिन्न कर हमारे देश ने अविवेक के प्रचंड भार से दब कर परिस्थितियों की भीषण दासता स्वीकार कर ली। सामाजिक व्यवहार, राजनीति, धर्म और कला के क्षेत्र में हम लोग सृजनात्मकता से रहित हो गये तथा एक क्षयशील परम्परा अपनाकर हमने अपनी मानवता की अभिव्यक्ति का ही अन्त कर दिया।'

देश के बारे में यह छवि रायल बंगाल सोसायटी तथा बंगाल एशियाटिक सोसायटी जैसी अनेक संस्थाओं एवं प्रवृत्तियों से क्रमशः प्रचारित होती रही। राजेन्द्रलाल मित्र जैसे विद्वानों ने अपनी समर्पित प्रतिभा और परिश्रम के द्वारा इसे रूपायित करने में विशेष योगदान दिया। राजेन्द्रलाल मित्र एक देशभक्त थे। वे भारत को इंग्लैंड जैसा तथा भारतीयों को अंग्रेजों जैसा बनते देखना चाहते थे और इसी में देश का गौरव मानते थे। आर्य जाति सम्बन्धी भाषा–वैज्ञानिक परिकल्पनाएँ और गाथाएँ इस सम्मोहन का प्रेरक तत्त्व बनीं। इन सब तत्वों के सम्मिलित परिवेश ने ही तत्कालीन नवप्रबुद्ध भारतीयों, विशेषकर बंगाली भद्रलोक का वह मानस रचा, जिसके प्रतिनिधि दृष्टांत हमने अभी उद्धृत किये।

भारत की छवि नई 'इंडोलॉजी' की रचना थी। इसमें किसी व्यक्ति को दोषी ठहराने की बात नहीं है, अपितु तत्कालीन भद्रवर्गीय परिवेश और मनोदशा के प्रतिनिधि रूपों का ही संकेत यहाँ है। भारत के हार जाने और पराधीन हो जाने की चिन्ता का एक उल्लेखनीय शक्तिशाली वर्ग में यह रूप बनते जाना कि

विजेता के समक्ष समर्पण और दासता में ही स्वाधीनता दीखने लगे, विचार एवं विश्लेषण का विषय है, निन्दा या धिक्कार का नहीं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसी सर्जनात्मक प्रतिभाओं ने एक विचित्र आत्मग्लानि, आत्मदैन्य और उसी के साथ योरपीय लक्ष्यों की पूर्ति में ही भारत का आत्मगौरव देखने का बौद्धिक परिवेश रचा, उसमें ही जवाहरलाल नेहरू जैसे पश्चिमीकृत व्यक्तियों का उभरना और प्रतिष्ठित होना सम्भव हुआ।

चेतना–विकासवाद की अपनी विशिष्ट अवधारणाओं के फलस्वरूप जवाहरलाल नेहरू जैसे लोग पश्चिम के चिन्तकों में सर्वाधिक विकसित चेतना देखते थे और पश्चिम के चिन्तकों के अनुगत समाज को सर्वाधिक विकसित समाज। अतः पश्चिम के द्वारा रची गई आधुनिक शिक्षा ही स्वभावतः जवाहरलाल नेहरू के लिए प्रामाणिक ज्ञान का एकमात्र माध्यम थी। इसीलिए वे मानते थे कि भारतीय ग्रामीणों में आधुनिक शिक्षा के पर्याप्त प्रसार के बिना ज्ञान और गुण हो ही कैसे सकते हैं। इसीलिए वे भयंकर अज्ञान और गुणहीनता की इस दशा से करोड़ों भारतीयों का उद्धार करना तथा उन्हें अपने अनुरूप रूपान्तरित करना, अपने नेतृत्व में आधुनिक शिक्षित वर्ग द्वारा संचालित राज्य का प्रमुख कर्तव्य मानते थे।

सृजनात्मक बुद्धि के इस अभाव का परिणाम था कि भारतीय इतिहास, भारतीय शास्त्र, धर्मग्रन्थ एवं वेदों तक में वे सब बातें ढूँढ़ी–बताई जाने लगीं, जो हमें अंग्रेजों के अनुगत बनने के योग्य सिद्ध करें। इसमें विशेष बात यह भी थी कि स्वयं अंग्रेजों के बारे में हमें लगभग कुछ भी नहीं ज्ञात था। न उनका इतिहास, न उनकी समाज व्यवस्था, न उनके लक्ष्य। वे अपने बारे में जो भी यहाँ हमें बता देते, उसे ही हमारे प्रबुद्ध लोग ब्रह्म सत्य मानने लगे। साथ ही, स्वयं के वैसे बन सकने की सुपात्रता सिद्ध करने लगे। यहाँ तक कि वेदों में गोमांस–भक्षण की बात है, यह सिद्ध करने के लिए राजेन्द्रलाल मित्र जैसे विद्वानों ने अद्भुत परिश्रम किया। अपनी नृतत्वशास्त्रीय एवं राजनैतिक मान्यताओं के कारण अंग्रेज मानते थे कि उनसे भिन्न अन्य समाज सभ्यता के विकास की पूर्व अवस्था में हैं और अपने इतिहास के कारण वे मानते थे कि आदि दशा में मनुष्य नरमांस खाते थे, तो यहाँ राजेन्द्रलाल मित्र जैसे परिश्रमी विद्वान यह सिद्ध करने में भी जुट गये कि हमारे यहाँ नरबलि प्रथा थी एवं नरमांस खाया जाता था। ऐसी बातों के प्रचार से ऐसा वातावरण बना कि अपने समय में विवेकानन्द भी कह गये कि एक समय था, जब भारत में पाँच ब्राह्मण मिलकर एक गाय को चट कर जाते थे। इसकी ही एक परिणति आचार्य विनोबा भावे में देखी जा सकती है। विनोबा

भावे 'गीता प्रवचन' में कह गये कि वैदिक ऋषि गौमांस खाते थे और फिर इस कथन के लिए प्रमाण दिया सातवीं शताब्दी ईस्वी में भवभूति रचित 'उत्तर रामचरितम्' नाटक के उस अंश का, जिसका अर्थ भी अस्पष्ट है। इससे हमारे विद्या के स्तर में आया ह्रास व प्रमाद ही झलकता है।

स्वाधीनता की चिन्ता और विचार जहाँ हमारे नवप्रबुद्ध वर्ग में आक्रामकों के प्रतिपादनों के प्रति ऐसे दास्य–भाव को गहरा करने की परिणति को प्राप्त हुआ, वहीं वृहत् भारतीय समाज में स्वाधीनता की चिन्ता इससे विपरीत रूप में ही प्रकट होती रही। यह वृहत् समाज अपने सांस्कृतिक प्रतीकों और आदर्शों को केन्द्र बनाकर बारम्बार स्वयं को संगठित करने का प्रयास करता है। १८५७ ई. के स्वतन्त्रता–संग्राम में भी ऐसा ही प्रयास किया गया था। सन् १८८० से १८६४ ई. तक देशभर में, विशेषतः उत्तर और मध्य भारत में प्रबल गौरक्षा आंदोलन उठा। गौरक्षिणी सभाओं की व्यापक श्रृंखला स्थापित हुई, जिसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, धनी, निर्धन, नर–नारी, बाल–वृद्ध सभी सम्मिलित हुए। अपनी सांस्कृतिक अस्मिता, चेतना और परम्परा से जुड़े प्रतीकों एवं रूपों के साथ वृहत् समाज अपनी आत्माभिव्यक्ति का निरन्तर प्रयास करता रहा है। वृहत् समाज के ऐसे प्रयासों में भारत को हीन मानने या भारतीय संस्थाओं, प्रवृत्तियों एवं आदर्शों के प्रति ग्लानि भाव होने के कोई भी चिन्ह नहीं दीखते।

महात्मा गाँधी में ऐसा हीनता भाव और ग्लानि भाव लेशमात्र नहीं था और उनके नेतृत्व में पूरा देश एक होकर उमड़ पड़ा। देश के बारे में महात्मा गाँधी का विचार नवप्रबुद्ध लोगों से नितान्त भिन्न था। वे मानते थे कि इस देश के वृहत् समाज में भरपूर गुण हैं, और कुप्रवृत्तियों तथा विकृतियों के होते हुए भी आन्तरिक सामर्थ्य है। यदि इन्हें अपनी श्रेयस्कर प्रवृत्तियों को संगठित करने और अभिव्यक्ति करने के वैसे ही पर्याप्त साधन स्रोत फिर से दे दिये जाएँ तो ये लोग उसी तरह एक श्रेष्ठ सभ्यता पुनः रचने लगेंगे, जैसे कि हजारों साल से रचते रहे हैं। कुछ लड़ाई–झगड़े तो समय–समय पर होते ही रहेंगे, उतार–चढ़ाव भी होंगे, थोड़ा वैर–विरोध, कुछ अनीति भी शायद रहे, पर उन सबको अनुचित और अधर्म माना जाएगा, मर्यादा का उल्लंघन माना जायेगा तथा उनकी निन्दा की जायेगी। इसलिए आवश्यक है इन्हें पुनः आत्मगौरव एवं आत्मप्रतिष्ठा हेतु आवश्यक वे साधन–स्रोत वापस लौटाना, जो कुछ तो इस्लामी प्रभुत्व काल में, लेकिन पूरी तरह ब्रिटिश साम्राज्य के काल में इनसे छल–बल से छीन लिये गये। यहाँ महत्वपूर्ण मात्र इतना है कि गाँधीजी को भारतीय जन और भारतीय धन के सामर्थ्य पर पूरा भरोसा था तथा उसी दृष्टि से उन्होंने अपने

अद्वितीय संगठन और सामर्थ्य के बल पर देशव्यापी विराट संगठन और आंदोलन खड़ा किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वाधीनता की चिन्ता व विचार की दो मुख्य धाराएँ ब्रिटिश साम्राज्यकाल में रहीं। एक धारा वृहत् समाज की थी, जिसके सबसे सशक्त नेता गाँधीजी हैं। दूसरी धारा भारत में क्रमशः पराये होते जा रहे अभिजन एवं शक्तिशाली जन हैं, जो आक्रामकों के प्रति विशेष समर्पण एवं दास्य भाव की एक लम्बी परम्परा के वाहक हैं। स्पष्ट है कि भारत के स्वाधीनता–कामी वृहत् समाज की मुख्य टक्कर इन अभिजनों से नहीं थी, अपितु पराधीन बनाने वाले साम्राज्य से थी। उस साम्राज्य को समझने से हमें इस दास्य भाव वाले अभिजन समुदाय के भी मानस के कारक तत्वों का कुछ अनुमान हो सकेगा।

आक्रामक अंग्रेज और उनका समाज तथा सभ्यता

सन् १५०० ई. के बाद से विश्वभर में यूरोपीय जातियाँ अपना प्रभाव बढ़ाने लगीं और लगभग सम्पूर्ण गैर–यूरोपीय विश्व को किसी न किसी रूप में अपने नियन्त्रण या प्रभाव में लाने में सफल हुईं। यह सफलता यद्यपि उन्हें सोलहवीं शती ई. से ही मिल पाई, किन्तु उनकी अपनी सभ्यता–दृष्टि बहुत पहले से ऐसी ही रही है।

प्लेटो के समय से ही, यूरोपीय दृष्टि यह है कि थोड़े से लोग, मुख्यतः एक चिंतक या उद्धारक, और उसके अंगरूप सच्चे शिष्य या अनुयायी तथा उन्हें मिलाकर बनी संस्था या निकाय, ये ही सत्य और संस्कृति के वाहक होते हैं। शेष समाज में सत्य और संस्कृति के सर्वोच्च रुप को ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं होता और The good and the Beauty 'द गुड' और 'द ब्यूटी' की भी समझ नहीं होती, समझने की क्षमता नहीं होती। अतः यदि उनकी बुद्धि और मन पर नियंत्रण नहीं रखा गया तो बुराई फैलेगी, पाप फैलेगा बर्बरता फैलेगी। इसलिए शक्ति का केन्द्रीकरण अत्यावश्यक है। उसी से सभ्यता की रक्षा हो सकती है।

सभ्य वे हैं, जो शक्तिशाली हैं, शासक हैं। अपने समाज के शेष लोग बर्बर हैं। उन्हें दास बनाकर रखना चाहिए। तभी सभ्यता का विकास होता है, सुव्यवस्था सम्भव होती है। अपने अतिरिक्त अन्य समाज सम्पूर्णतः बर्बर होते हैं, अन्धकार ग्रस्त होते हैं। उन्हें अपने अधीन लाकर कुछ प्रकाश का संचार करना चाहिए। यह सम्पूर्ण पृथ्वी हमारे अपने प्रकाश फैलाये जाने के लिए है। हमारे

द्वारा विश्व के सभी समाजों का उद्धार होना है। उनका उद्धार इसमें है कि वे सभ्यता के 'टूल' औजार बन जाएँ। इस प्रकार सभ्यता का अर्थ है यूरोपीय शासकों के विचार व व्यवहार। विश्व के समाजों के उद्धार का अर्थ है उन्हें इस सभ्यता का औजार बनाया जाना।

अरस्तू ने स्पष्ट कहा है – 'सम्पत्ति मनुष्य का औजार है और स्वयं औजार मनुष्य की सम्पत्ति है। सभ्यता का अर्थ है सम्पत्ति की निरन्तर वृद्धि, व्यवस्था और रक्षा। अपनी सम्पत्ति की रक्षा औजारों के द्वारा की जाती है। दास एवं सेवक भी ऐसे ही औजार हैं। उनसे काम लेते हुए सम्पत्ति बढ़ाई जाती है।' इस प्रकार सभ्यता का अर्थ है – सम्पत्ति विस्तार। शासकों यानी सभ्यों के अतिरिक्त शेष सबको सम्पत्ति का औजार बनाना है। यही सभ्यता का विस्तार है। समय एवं आवश्यकता के अनुसार औजार के रूप बदलते रहते हैं।

यहीं यह भी स्मरणीय है कि यूरोपीय शासक सामान्यतः अन्य समाजों को सीधे अपने द्वारा उद्धार योग्य नहीं मानते। ऐसे छोटे कामों के लिए उनके औजार या उनके अर्धविकसित लोग ही पर्याप्त हैं। सभ्य शासक इस उद्धार व्यापार का नियंत्रण–निर्देशन ही करते हैं। इसी दृष्टि के अन्तर्गत १६ वीं शती ईस्वी में विविध ईस्ट इंडिया कम्पनी बनायी गई। जो लोग अपेक्षाकृत गरीब व मध्यम वर्ग के होते थे और जिनमें जोखिम उठाने का साहस व धन की अभिलाषा होती थी उन्हीं यूरोपीयों को शेष विश्व की खोज करने तथा वहाँ आधिपत्य जमाकर यूरोपीय सभ्यता का प्रकाश फैलाने भेजा गया। यहीं प्रसंगवश स्मरणीय है कि कार्ल मार्क्स ने भी यही माना था कि एशिया अफ्रीका के देशों के समाजों का उद्धार तो यूरोप का 'वर्किंग क्लास' –औद्योगिक श्रमिक वर्ग करेगा। कार्ल मार्क्स यूरोपीय सभ्यता के ही एक सबल प्रतिनिधि थे।

अपनी विश्व दृष्टि के प्रति आस्था, संकल्प और मनोबल से तथा उसके अनुरूप संस्थाएँ – व्यवस्थाएँ खड़ी करते हुए यूरोपीय विश्व में फैले साधन या शिक्षा या विज्ञान – प्रौद्योगिकी की दृष्टि से वे उन दिनों विश्व के अन्य समाजों से पीछे ही थे, आगे नहीं। इस यथार्थ को न जानने के कारण हमारे बहुत से विद्वान भी तरह–तरह के भ्रान्त निष्कर्षों पर पहुँचते रहते हैं। यहाँ हम भारत को सभ्य बनाने के लिए आगे बढ़कर सफल होने वाले इंग्लैंड के ही तथ्यों का इस दृष्टि से स्मरण कर लें।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के सन्दर्भ में सर्वप्रथम तो यही स्मरणीय है कि आधुनिक विज्ञान की अधिकांश उपलब्धियाँ मात्र एक सौ वर्ष पुरानी हैं – कार, वायुयान, मोटरलारी, बिजली आदि एक सौ वर्ष पहले नहीं थे। रेल भी १५० वर्ष

से अधिक पुरानी नहीं है। १६ वीं शताब्दी ई. में जब अंग्रेज भारत में अपना विस्तार कर रहे थे, उस समय तक इंग्लैंड में वहाँ की आवश्यकता की तुलना में बहुत कम लोहा होता था। स्वीडन, रूस आदि से आयात कर वे काम चलाते थे। ब्रिटेन का कच्चा लोहा हल्के किस्म का था और १७00 ईस्वी के आसपास से पत्थर के कोयले का प्रयोग वे इस्पात बनाने के काम में करने लगे थे, पर वह कोयला भी घटिया किस्म का था। जे. एम. हीथ ब्रिटेन के एक उद्योगकर्मी थे। वे बाद में शेफील्ड में लोहे और इस्पात के एक प्रमुख निर्माता बने। पहले १८२४ ई. में उन्होंने लिखा– 'यह सुविदित है कि अपनी आवश्यकता के लिए वांछित लोहे के लिए इंग्लैंड पूरी तरह विदेशों पर निर्भर है। पिछले वर्ष मात्र इस्पात बनाने के लिए इंग्लैंड में १२ हजार टन से अधिक विदेशी लोहे का आयात करना पड़ा। ....हर वर्ष 'सोसायटी फार एनकरेजमेंट आफ आर्ट्स' ईंग्लैंड में इस्पात बनाने के योग्य इंग्लिश लोहा तैयार किये जाने हेतु पुरस्कार देने की घोषणा करती है और आज तक उस पुरस्कार का कोई दावेदार नहीं हुआ। लगता है कि कभी कोई होगा भी नहीं। क्योंकि इंग्लिश कच्चा लोहा ऐसे ही स्तर का है और हमारा ईंधन भी घटिया श्रेणी का है।'

'ड्रिल प्लाऊ' यानी वपित्र जो भारत में पुरातन काल से प्रयुक्त होता रहा है, यूरोप में पहले पहल सन् १६६२ ई. में आस्ट्रिया में प्रयोग में आया। इंग्लैंड में 'ड्रिल प्लाऊ' का पहला प्रयोग १७३० ईस्वी में हुआ, पर प्रचलन लगभग ५0 वर्ष बाद सन् १७८0 में हुआ। सिंचाई यूरोप में कभी अधिक नहीं थी।

ब्रिटेन में शिक्षा की दशा का भी स्मरण उपयोगी होगा

१३ वीं और १४ वीं शती ईस्वी में ब्रिटेन में आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज एवं एडिनबर्ग विश्वविद्यालय प्रारम्भ हुए। १८ वीं शती ईस्वी के अन्त तक ब्रिटेन में लगभग ५00 ग्रामर स्कूल थे। सोलहवीं शती ईस्वी के मध्य में वहाँ प्रोटेस्टेंट ईसाईयों ने सत्ता पर एकाधिकार किया था और अधिकांश कैथोलिक ईसाई मठों को बन्द कर दिया तथा उनकी सम्पत्ति एवं आय राज्य के अधीन कर दी। तब से वहाँ शिक्षा एक अत्यन्त सीमित वर्ग को ही दी जाती रही।

ए. ई. डाब्स के अनुसार प्रोटेस्टेंट क्रान्ति के पहले इंग्लैंड के गरीबों को पढ़ने के लिए स्कूल जाने की सुविधा थी। उनके अनुसार उन दिनों आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय एक ईसाई पंथ का धर्मार्थ शिक्षा केन्द्र था और इंग्लैंड का वह मुख्य ग्रामर स्कूल माना जाता था जहाँ ईसाई तत्व–ज्ञान, चिकित्सा एवं कानून पढ़ाये जाते थे। किन्तु सोलहवीं शती ईस्वी के मध्य से विपरीत प्रवृत्ति उभरी।

तब कुछ समय के लिए एक कानून बना कि अंग्रेजी में लिखी बाइबिल चर्चों में नहीं पढ़ी जानी चाहिए। कानून में प्रावधान था कि निजी तौर पर पढ़ने का अधिकार उन नोबल्स को, कुलीनों को एवं व्यापारियों को है जो गृहस्वामी हैं, किन्तु कारीगरों, किसानों, मालियों, मजदूरों आदि के बेटों को नहीं है। इसका कारण यह बताया गया था कि धर्मग्रंथ बाइबिल की मुक्त व्याख्या करके वहाँ अव्यवस्था फैलाने की कुछ कोशिश हो रही है। उन लक्षणों को दबाना है। तब कहा गया कि 'हल जोतने वाले के बेटे को हल पकड़ना चाहिए, कारीगर के बेटे को बाप का हुनर अपनाना चाहिए, कुलीनों की संतानों को राजकाज का ज्ञान प्राप्त कर कामनवेल्थ का शासन करना चाहिए। क्योंकि हमें सभी प्रकार के लोग चाहिए और (इसीसे) सबका स्कूल जाना आवश्यक नहीं।'

फिर १७ वीं शती ईस्वी के अन्त से कुछ नई नीति अपनायी गई। साधारण लोगों के लिए कुछ चेरिटी स्कूल स्थापित हुए, ताकि श्रमिक वर्ग की चेतना को इतना तो उन्नत बनाया जा सके कि वे ईसाई धार्मिक निर्देशों को ग्रहण कर सकें। विशेषकर वेल्स में ये चेरिटी स्कूल इसलिए खोले गए, ताकि 'गरीबों को इतनी बाइबिल पढ़ायी जा सके कि वे रविवारी प्रार्थना में सम्मिलित हो सकें और धार्मिक निर्देश ग्रहण कर सकें।' पर ये चेरिटी स्कूल आधिक नहीं चले। फिर १७८0 ई. के लगभग से 'संडे स्कूल मूवमेण्ट' शुरू हुए। उसमें भी लोकशिक्षण का मुख्य लक्ष्य ईसाइयत के प्रचार के ग्रहण करने योग्य अधिकाधिक लोगों को बनाना और हर बच्चे को बाइबिल पढ़ने योग्य बनाना था। कुछ समय बाद डे स्कूलों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। १८३४ ईस्वी तक अच्छे राष्ट्रीय स्कूलों में भी पाठ्यक्रम मुख्यतः धार्मिक निर्देशों तक सीमित था। पढ़ पाना, लिख पाना और अंकगणित का सामान्य ज्ञान पाठ्यक्रम के लक्ष्य थे। कई स्कूलों में लिखना सिखाने की बात त्याग दी गई, क्योंकि भय था कि इसके बुरे, यानी राज्य के लिये हानिकारक, परिणाम हो सकते हैं।

१८0२ के एक कानून में यह विधान बना कि छोटे बच्चों को काम पर रखने वाले स्वामी लोग सात वर्षों की एप्रेण्टिसशिप की अवधि में सेवा लेने के साथ–साथ पहले चार वर्ष उन्हें पढ़ना, लिखना और अंकगणित सिखाएं तथा धार्मिक निर्देश ग्रहण करने के योग्य बनाएं। रविवार को एक घंटे इन बच्चों को प्रार्थना सभा में पहुँचाया जाए। किन्तु यह कानून 'बहुत अलोकप्रिय हुआ। उसका प्रभाव अधिक नहीं हुआ।' तभी जोसेफ लंकास्टर द्वारा प्रयुक्त मानीटोरियल शिक्षण–विधि अपनायी गई। इसमें एण्ड्रयू बेल का भी योगदान था। उन्हीं दिनों यह माना गया कि यह विधि भारत से ग्रहण की गई। उस विधि से लोकप्रिय शिक्षा के कार्य को बहुत सहायता मिली। ब्रिटेन में १७६२ ईस्वी में स्कूलों में पढ़

रहे बच्चों की संख्या ४० हजार के लगभग बताई गई है। १८१८ ई. में यह संख्या ६,७४,८८३ तथा १८५१ ईस्वी में २१,४४,३७७ थी। १८०१ ई. में निजी और सार्वजनिक स्कूलों की वहाँ कुल संख्या ३,३६३ थी तथा १८५१ ईस्वी में वह क्रमशः बढ़ती हुई ४६,११४ तक जा पहुँची। प्रारम्भ में शिक्षक बहुत सक्षम नहीं थे।

सार्वजनिक स्कूलों में प्रारम्भ में अत्यल्प छात्र थे। श्रूसबरी के प्रसिद्ध स्कूल में जनवरी, १७६७ ईस्वी में कुल तीन या चार लड़के थे। बहुत प्रयास करने पर और स्कूल का पुनस्संगठन करने पर एक वर्ष बाद यह संख्या २० तक जा पहुँची। १८५१ ईस्वी तक स्कूलों में गणित का नियमित अध्यापन नहीं होता था। छिटपुट अंकगणित सिखायी जाती थी।

सार्वजनिक स्कूलों की चाहे जो दशा थी, किन्तु आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज एवं एडिनबर्ग इंग्लैंड के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय थे। १७७३ ईस्वी के बाद वहाँ से भारत आने वाले विद्वान, यात्री, न्यायाधीश आदि इन्हीं विश्वविद्यालयों के शिक्षित जन थे। १८०० ईस्वी में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की स्थिति पर एक दृष्टि यहाँ उपयोगी होगी। कैम्ब्रिज और एडिनबर्ग में भी स्थिति लगभग ऐसी ही थी।

सन् १८०३ में पहली बार आक्सफोर्ड में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर की नियुक्ति हुई। इसके पहले साहित्य, विधि, संगीत, व्याकरण, दर्शन आदि के प्रोफेसर थे। साथ ही १६२४ ईस्वी में 'एनाटमी' के और १६६६ ई. में 'बॉटनी' के प्रोफेसर की नियुक्ति हुई थी। उन्नीसवीं शती ई. के आरम्भ में आक्सफोर्ड से संलग्न १६ कालेज और ५ सभा कक्ष थे। कालेजों में कुल ५०० फैलो थे, जिनमें से कुछ प्रत्येक कालेज में अध्यापन भी करते थे। कुल १६ प्रोफेसर (विभागाध्यक्ष) १८०० ई. में थे। १८५४ में इनकी संख्या २५ हो गई।

उन्नीसवीं शती ईस्वी के आरम्भ में जो मुख्य विषय पढ़ाये जाते थे, वे थे ईसाई पंथ विद्या (थिओलॉजी) एवं क्लासिक्स। 'लिटरेट ह्यूमेनिअर्स' नाम से क्लासिक्स की परीक्षा होती थी, जिसमें ग्रीक व लैटिन भाषा और साहित्य, मॉरल फिलासॅफी, छन्द अलंकार शास्त्र एवं तर्क शास्त्र सम्मिलित थे। गणित, विज्ञान एवं भौतिकी के तत्वों से सम्बन्धित प्रश्न प्रत्र भी परीक्षा में होते थे। विधि ा, चिकित्सा, भूगर्भ शास्त्र आदि पर व्याख्यान उपलब्ध थे।

१८०५ ई. के आगे इस विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी। उन्नीसवीं शती के आरम्भिक वर्षों में कुल छात्र ७६० थे, १८२०–२४ में यह संख्या १३०० तक जा पहुँची। कालेजों के पास अपनी सम्पत्ति थी, विशेषकर भूमि और विद्यार्थियों से प्राप्त धन।

विश्वविद्यालयों का काम इसी तरह के धन से चल रहा था। जहाँ

ब्रिटिश, डच, पुर्तगाली और फ्रेंच लोगों के समूह सीधे या कि १६वीं–१७वीं शती में बनायी अपनी विविध ईस्ट इंडिया कम्पनियों के नाम से भारतीय क्षेत्र एवं भारतीय महासागर–क्षेत्र में अपना प्रभाव, आधार, स्थिति सुदृढ़ करने में लगे थे, वहीं यूरोपीय विद्वान इस क्षेत्र की सभ्यता को समझने में निरन्तर प्रवृत्त थे, ताकि उस ज्ञान से लाभ उठाकर इस सभ्यता को अपने हिसाब से ढाल सकें और प्रभावित कर सकें। इनमें विविध ईसाई मठों के पंथ प्रचारक एवं पंथाधिकारी प्रमुख थे, विशेषकर जेसुइट लोग। ये लोग भारतीय विज्ञान, सामाजिक प्रथाएँ, रीति–रिवाज, तत्व ज्ञान एवं धर्म–पंथों को समझने हेतु सक्रिय थे। कुछ अन्यों की रुचि अधिक राजनैतिक, ऐतिहासिक तथा आर्थिक विषयों में थी। वे 'कथात्मक' एवं 'उत्तेजनापूर्ण' 'पूर्व' के अपने अनुभव और कथाएँ लिखते थे। यूरोपीय अभिजातवर्ग में इस तरह की लिखित सामग्री की इतनी माँग बढ़ी कि शीघ्र ही एक या एकाधिक यूरोपीय भाषाओं में ऐसे साहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। जो वृत्तातं और विमर्श सीमित किन्तु विशिष्ट विद्वज्जनोचित उपयोग के थे, अथवा धार्मिक अभिप्राय के काम के थे, उनकी हाथोहाथ अनेक प्रतिलिपियाँ तैयार होती थीं। उदाहरणार्थ, एक विदुषी ने डॉक्टरेट के अपने शोधग्रंथ 'एटूड सुर ल रोल देस मिसनरीज योरोपीन्स दान्स ला फार्मेशन प्रीमियर्स देस इडीज सुर इ इन्दे' में बताया कि अठारहवीं सदी के आरम्भ की एक पांडुलिपि 'ट्रेट दे ला रिलीजन देस मलावार्स' की अनेक प्रतियाँ उपलब्ध हैं। उसकी पहली प्रतिलिपि पांडिचेरी में १६६६ से १७२० ईस्वी तक पेरिस फारेन मिशन के प्राकूरेटर रहे टेसीयर डे क्वेरले द्वारा १७०६ ई. में पूर्ण की गयी थी। वे १७२७ ई. में थाइलैंड के एपास्टालिक वाइकार नामांकित किये गये थे। इस पांडुलिपि की प्रतियाँ इन संग्रहालयों में उपलब्ध हैं – पेरिस में बीकिलयाथिक नेशनल में ३ प्रतियाँ, बीबिलयाथिक दे ल आर्सनल में एक प्रति, बीबिलयाथिक स्टे. जेनेवी में एक प्रति, आरकाइव्स नेशनल्स में एक प्रति, चार्टर्स में बीबिलयाथिक म्युनिसिपेल में एक प्रति, जो कि पहले गवर्नर बेनाइ डूमा के पास थी, लंदन में इंडिया आफिस लाइब्रेरी में दो प्रतियाँ – एक कर्नल मैकेंजी के संग्रह में, दूसरी जान लेडेन के। रोम में एक प्रति (बीबिलयाटेका केसानटेसा, जिसमें वेटिकन कलेक्शन हैं)।

ऐसी संचित सामग्री के विशाल संग्रह के कारण यूरोपीय विद्वानों का ध यान भारत एवं दक्षिणपूर्व एशिया की राजनीति, विधि शास्त्र, दर्शन विज्ञान और भारतीय गणित ज्योतिष की ओर गया। वाल्टेयर, एबे रेनाल, जां सिलवां बैली जैसे यूरोपीय विद्वान लोगों के प्रभाव को ग्रहण कर ब्रिटेन में भी एडम फर्गुसन, विलियम राबर्टसन, जान प्लेफेयर और मैकनोची आदि ने भारतीय राज्य, राजनीति, समाज–जीवन, सामाजिक सम्बन्ध आदि का विस्तृत विवरण प्राप्त

करने में गहरी रुचि दिखाई। अपने सुनियोजित प्रयास से वे सब क्रमशः भारतीय राज्य, राजनीति एवं समाज व्यवस्था पर ब्रिटिश प्रभाव बढाते जाने में सफल होते गए। अपने प्रयोजन के अनुरूप वे भारत के बारे में जानकारी एकत्र करते रहे। इसी प्रक्रिया में चार्ल्स विलकिन्स, विलियम जोंस, एफ. डब्ल्यू. एलिस, लेफ्टिनेंट विलफोर्ड आदि ने भारतीय साहित्य का भी अध्ययन किया। ऐसा लगता है कि भारतीय ज्ञान, विद्वता और विद्या केन्द्रों के प्रति तीन परस्पर पूरक, किन्तु दिखने में भिन्न, प्रवृत्तियाँ अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध से ब्रिटिश विद्वानों में पनपीं। एक तो ब्रिटिश सत्ता की वृद्धि एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं के आध ार पर यह जानकारी आवश्यक लगी, ताकि अंग्रेज अपनी राजनीति एवं अपने राजकीय कानूनों को भारतीय परम्पराओं, धर्मग्रन्थों आदि के अनुरूप बनाएँ, भले ही इसके लिए कितनी भी दूर की कौड़ी लानी पड़े। दूसरी धारा मैकनोची जैसे लोगों की थी। अमेरिका का अपना अनुभव ध्यान में रखकर ये सोचते थे कि पराजित भारत की सभ्यता बिखर जाएगी, प्राचीन ज्ञान–परम्परा विनष्ट हो जायेगी इसलिये विशेषतः वाराणसी जैसे केन्द्रों में ज्ञान की जो भी प्रवृत्तियाँ एवं राशि विद्यमान है, उनका अभिलेख तैयार कर डालना ये लोग आवश्यक मानते थे। तीसरा प्रयास प्रकार स्वयं ब्रिटेन में अपने लोगों को मार–पीटकर, दबाकर, एक संस्थाबद्ध, औपचारिक, कानून को मानने वाली ईसाइयत के अधीन ले आया गया है, वैसा ही भारत में भी किया जाय और इसमें ईसाई मिशनरियों के लक्ष्य और प्रोपेगण्डा की सहायता की जाए, ताकि ईसाई 'प्रकाश' और 'ज्ञान' भारतीयों में फैलाया जा सके। इसके लिए विविध भारतीय भाषाओं का व्याकरण तैयार करना अत्यावश्यक कार्य समझा गया। विलियम विलबरफोर्स के अनुसार इसका लक्ष्य – 'पवित्र बाइबिल का प्रचार देशी भाषाओं में करना था ताकि संक्षेप में भारतीय बिना जाने ही ईसाई हो जाएँ।'

ब्रिटिश समाज–व्यवस्था

अपने ऐसे लक्ष्यों के साथ विश्व को अपनी सभ्यता के दायरे में ले आने अर्थात् उन्हें अपनी सभ्यता का औजार बनाने, अपनी सम्पत्ति बनाने के लिए संकल्पित एवं प्रयास–रत ब्रिटिश शासकों द्वारा शासित उनका अपना समाज कैसा था, उनकी व्यवस्था क्या थी, संक्षेप में यह जानना भी आवश्यक है।

शताब्दियों तक ब्रिटिश भूमि पर बार–बार आक्रमण होते रहे और प्रत्येक आक्रमणकारी समूह पहले के समुदायों को दास बनाता तथा नष्ट करता रहा। इस प्रकार ब्रिटेन को अनेक बार पराजय झेलनी पड़ी। अन्तिम बार ग्यारहवीं

शती ईस्वी में नार्मन जाति ने वहाँ आक्रमण किया और वहाँ के समाज को पराजित कर अपने अधीन कर लिया। नार्मनों ने अपने ढंग से नयी व्यवस्थाएँ रचीं। उन्हीं व्यवस्थाओं का क्रमिक विकास आधुनिक ब्रिटिश साम्राज्य के रूप में हुआ।

ब्रिटेन ने भारत में जो भी किया, वह उससे अधिक भिन्न नहीं है, जो ग्यारहवीं शती ईस्वी में ब्रिटेन पर नार्मन–विजय के बाद से ब्रिटिश राज्य ने अपने यहाँ करना शुरू किया और १६ वीं शती ईस्वी तक भी बहुत कुछ करना जारी रखा। १६ वीं शती ईस्वी से वही व्यवहार इंग्लैंड द्वारा आयरलैण्ड के साथ किया गया। १६ वीं, १७ वीं, १८ वीं शती ईस्वी में वही व्यवहार उत्तरी अमेरिका में किया गया। १८ वीं एवं १६ वीं शती ईस्वी में संयुक्त राज्य अमेरिका में भी ब्रिटिश राज्य के उत्तराधिकारियों ने वे ही सब तरीके अपनाए। बल्कि, एक अर्थ में कहा जाना चाहिए कि भारत की व्यापकता–विशालता के कारण, यहाँ निवास करने वालों की जनसंख्या की सघनता के कारण अथवा भारतीय जलवायु एवं परिवेश बड़े पैमाने पर औपनिवेशीकरण के उपयुक्त नहीं होने के कारण, ब्रिटेन ने भारत में जो किया, वह अधिक दिनों तक किया गया क्रूर दमन तो था, पर स्वयं ब्रिटेन में की गई तीव्र क्रूरता से अधिकनहीं था, शायद कुछ कम ही था। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में सन् १८१८ ईस्वी तक मृत्यु–दंड का प्रावधान २०० से अधिक अपराधों में से प्रत्येक प्रकार के अपराध पर विधि–विहित था, इनमें ५ शिलिंग से अधिक मूल्य की कोई भी वस्तु चुराने का अपराध भी सम्मिलित था। इसी प्रकार लगभग १८३० तक ब्रिटिश सैनिकों को कोई गम्भीर मानी जाने वाली गलती करने पर (विशेष रूप से तैयार) ४००–५०० कोड़े लगाये जाने की बात सामान्य थी।

नार्मन विजय के बाद इंग्लैंड में जो जो हुआ, उसके विस्तार में जाने का यहाँ अवसर नहीं है। किन्तु सन् १३८५ के आसपास हुए किसान विद्रोह की याद प्रासंगिक होगी। १३८५ में इंग्लैंड में बहुत बड़ी मात्रा में किसान विद्रोह हुए। देशभर में किसानों की क्षेत्रीय फ्यूडल लार्ड्स से तथा अन्य अधिकारियों से लड़ाई हुई। फिर किसानों ने लंदन को घेर लिया। राजा को सन्धि करनी पड़ी। फिर बाद में राजा ने छल–घात से किसानों को बातचीत के लिए बुलाया और सेना से घिरवाकर कइयों को मरवा डाला तथा विद्रोह को कुचल दिया। इसी प्रकार सोलहवीं शती ई. के आरम्भ में वहाँ 'एनक्लोजर मूवमेंट' चला। हजार–पांच सौ एकड़ के क्षेत्र के बाड़े घेरकर उस दायरे से छोटे किसानों को भगा दिया जाता था तथा बड़े फार्म स्थापित किये जाते। भगाये हुए किसान मुक्त बाजार में सस्ती मजूरी के लिए सुलभ होते और दर–दर भटकते। इन्हीं बड़े खेतों में इस

प्रकार खेती एवं भेड़ पालन कर 'सरप्लस' पैदा किया गया व ऊन उद्योग विकसित किया गया। इसे ब्रिटिश पूँजी के निर्माण का महत्वपूर्ण अभियान माना जाता है। अनेक कानून बनाकर किसानों से जमीन छीनने को वैधानिक रुप दिया गया। ईसाई मठों आदि की सम्पत्ति भी छीनी गई और इस प्रकार एक सशक्त राज्य का निर्माण आरम्भ हुआ।

आयरलैंड के इंग्लिश एटार्नी जनरल सर जान डेविस ने १६१० ईस्वी में आयरलैंड में अधिक प्रभावी नीति अपनाने का सुझाव देते हुए कहा–

'आयरलैंड की विजय को परिपूर्ण बनाने में दो कमियाँ सामने आईं। एक तो विद्रोहियों को पर्याप्त कठोरता से नहीं कुचला, दूसरे नागरिक प्रशासन में ढील बरती गई। जमीन का मालिक पहले जमीन को तोड़ता है। तभी वह जमीन अच्छे बीज के लायक बन पाती है। पूरी तरह जमीन तोड़कर और आवश्यक खाद आदि देकर, फिर यदि समय पर अच्छे बीज न बोये गये, तो खरपतवार उग आती है। अतः किसी बर्बर देश को पहले युद्ध से तोड़ा जाना चाहिए। तभी वह अच्छे शासन के योग्य बनता है। जब वह पूरी तरह जीत कर अधीन बना डाला जाय, तब उस पर एक शक्तिशाली सरकार थोपी जानी चाहिए, नहीं तो वह फिर बर्बर दशा में लौट जायेगा।'

इस प्रकार अंग्रेज इंग्लैंड और आयरलैंड में अपनी सभ्यता के आदर्शों के अनुरूप व्यवस्था रचते रहे। किसानों की कृषि भूमि छीन लेना, उन्हें विस्थापित करना, सेवकों को ३–४ सौ तक कोड़े बात–बात में फटकारना, छोटी–छोटी चूकों के लिए कठोर दंड देना, मजदूरी की दरें बहुत कम रखना, किसानों से कुल उपज का ५0 से ८0 प्रतिशत राजस्व के रूप में ले लेना, शिक्षा को विशिष्ट वर्ग का अधिकार मानना, राजनीति पर और शासन पर कुलीनों भर का अधिकार मानना, फौज के पदों की भर्ती सरकारी रेट या बोली के अनुसार धन लेकर करना आदि १६ वीं शती ई. तक ब्रिटिश समाज व्यवस्था के मुख्य लक्षण थे। राष्ट्र के समस्त साधन स्त्रोत राज्यकर्तावर्ग की सम्पत्ति हैं। उस सम्पत्ति को सभ्यता का औजार बनना है। शासकों के विचार एवं व्यवहार ही सभ्यता है। अपने समाज को सभ्य बनाने के साथ ही विश्व को भी सभ्य बनाना है – यह उनका लक्ष्य था। अपने इसी लक्ष्य के अनुरुप वे भारत आए और यहाँ योजनानुसार बढ़े। हमारा नवप्रबुद्ध वर्ग उनकी सभ्यता के इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति का औजार बना। उसी सभ्य बनने की प्रक्रिया में भारतीय स्वाधीनताखो दी गई। बाद म खोई हुई स्वाधीनता की चिन्ता में नवप्रबुद्ध वर्ग द्वारा यूरोपीय अधीनता को अधिकाधिक चाहा गया तथा स्वीकार किया जाता रहा। यह अधीनता–विस्तार ही सभ्यता–विस्तार कहा गया।

यूरोप से टकराव के पूर्व

यह स्पष्ट है कि हमारा शक्तिशाली वर्ग भारतीय समाज को जो दिशा देना चाहता है या देने की बात करता रहा है, उसका तर्क और औचित्य वह एक विशिष्ट ऐतिहासिक व्याख्या में देखता है जिसके अनुसार इधर शताब्दियों से हम अँधेरे और अज्ञान में गिरे थे, हमारा अपना राज्य नहीं था, परस्पर सम्बन्ध पर्याप्त नहीं था, हमारी सामाजिक इकाइयाँ अपने–अपने में अलग–अलग कटी पड़ी रहती थीं, विज्ञान और प्रौद्योगिकी में हम बहुत पीछे थे, शिक्षा मुट्ठी भर लोगों तक और विशिष्ट समूहों तक सीमित थी। हम एक असंगठित, गतिहीन समाज थे। इस्लाम की टकराहट से कुछ प्राण आते दिखे, पर उसमें मात्र भक्ति–आंदोलन उभरा, विद्रोह हुआ। मुख्य धारा बिखराव, असंगठन, परस्पर भेदभाव, शोषण और गतिहीनता की ही रही। यूरोप की स्थिति इससे उलटी थी। वहाँ गतिशीलता थी, अपेक्षाकृत समता एवं समृद्धि थी, इसी से संगठन था और इसी से वे जीत गए, हम हार गये।

यह मान्यता सत्ता का हस्तान्तरण सम्हाल रहे जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में सक्रिय समूह भर की नहीं रही है। जैसा हम पहले स्मरण कर चुके हैं, यह मान्यता बहुत गहराई तक प्रविष्ट कराई जा चुकी थी और ब्रिटिश राज में जिन लोगों को शक्तिशाली रहने दिया गया या जो किसी भी रूप में शक्तिशाली बन पाए, उनमें ऐसा एक भी संगठित समूह नहीं दिखता, जो सोलहवीं–सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दी ईस्वी के भारत को उस समय के यूरोप से अधिक अलोकतांत्रिक, विषमता–ग्रस्त, पिछड़ा, गतिहीन, मानवीय गुणों में घटकर और अज्ञानता से त्रस्त न मानता हो। जिन लोगों ने भारतीय शिल्प, उद्योग या शिक्षा की दिशा के विनाश के बारे में लिखा, वे भी इसके निहितार्थों को बहुत स्पष्ट नहीं समझ पाए। महात्मा गाँधी ही इसमें अपवाद दिखते हैं। किन्तु उनके जाने के बाद गाँधीवादी संगठित समूहों में वह दृष्टि लगभग अनुपस्थित दिखती है। भारत की हीनता की बात गाँधीवादियों में सर्वमान्य ही दिखती है। पुरानी श्रेष्ठता का सबका आग्रह या अभिमान है। परंतु हार के मूल में हमारी हीनता और विषमता ही कारण थी, इस पर नये प्रबुद्ध समूहों में लगभग सर्वानुमति है। कुछ लोगों ने इसका कारण संगठन के अभाव को माना। पर, उसका अधिक विचार वे भी सामने नहीं रख पाए। किस तरह के संगठन का अभाव था, क्या अब उस

अभाव की पूर्ति यूरोपीय ढंग के संगठन से की जानी है, भारतीय मानस, इतिहास और वर्तमान स्थिति को देखते हुए कहाँ तक संभव होगी, इन सब बातों पर कोई सन्तोषप्रद विचार हुआ नहीं। श्री विनायक दामोदर सावरकर ने भारतीय पराजय का कारण सद्गुण विकृति को बताया। परन्तु सद्गुण संस्कृति क्या होगी, अब उसका राष्ट्रीय रूप क्या बनेगा, इस पर उनका लेखन व भाषण अत्यन्त विखंडित और परस्पर विरोधी है। कुछेक यूरोपीय दुर्गुण हम भी अपना लें, तो बात बन जाए, ऐसा उनका प्रतिपादन दिखता है।

ये सब तो विश्लेषण के बिन्दु हैं। इनसे पहले स्थान तथ्यों का है। अतः सर्वप्रथम हमें उन तथ्यों की ओर ही ध्यान देना चाहिए। अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध तक भारतीय समाज में शिक्षा, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, व्यापार, श्रम, वेतन, मजूरी, सामाजिक सम्बन्ध समेत सम्पूर्ण सामाजिक संगठन की क्या स्थिति थी, इसे समेटने के कुछ प्रयास मैंने विज्ञान–प्रौद्योगिकी एवं शिक्षा से सम्बन्धित अपनी पुस्तकों 'इंडियन साइन्स एंड टेक्नोलाजी इन दी एटीन्थ सेंचुरी' और 'द ब्यूटीफुल ट्री' में तथा कुछेक लंबे आलेखों–निबन्धों में एवं व्याख्यानों में किये हैं। यहाँ संक्षेप में उनका स्मरण उचित दिखता है।

शिक्षा

भारत में शिक्षा की आवश्यक नीति क्या अपनाएं, यह निर्णय करने के पहले अंग्रेजों ने तत्कालीन स्वदेशी शिक्षा–पद्धति के कुछ सर्वेक्षण कराए। भारत का एक बड़ा भाग बारहवीं शती ईस्वी से लगातार इस्लाम–अनुयायियों के आक्रमण से टकरा रहा था और युद्धरत समाज की समाज–व्यवस्था, शिक्षा–व्यवस्था तथा अर्थ–व्यवस्था बहुत अस्त–व्यस्त होती, बिखरती और अस्वस्थ होती रहती है, सर्वविदित है। अतः अठारहवीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं शती ईस्वी के पूर्वार्द्ध में हुए सर्वेक्षण उस क्षयशील, बिखर रही, कमजोर दशा के ही सूचक हैं, यह ध्यान रखते हुए ही इनका स्मरण करना चाहिए।

मद्रास प्रेसीडेन्सी में स्वदेशी शिक्षा की क्या दशा थी, इसका अंग्रेजों द्वारा किया गया सर्वेक्षण सन् १८२० एवं १८३० के दशक में वहाँ की वास्तविक दशा का संक्षिप्त विवरण है। मुख्यतः १८२२–२५ में यह सर्वेक्षण हुआ। तत्कालीन मद्रास प्रेसीडेन्सी में वर्तमान पूरा तमिलनाडु, वर्तमान आंध्रप्रदेश का अधिकांश भाग और वर्तमान कर्नाटक प्रान्त के कुछ जिले व केरल के मालाबार का जिला व उड़ीसा में गंजाम जिला सम्मिलित थे।

इससे पहले की, सन् १७६० ईस्वी की, बंगाल के नवद्वीप विश्वविद्यालय की एक रिपोर्ट है, जिसके अनुसार वहाँ ११०० विद्यार्थी और १५० अध्यापक उन दिनों थे। सन् १८३० से १८४० ईस्वी के मध्यबंगाल की शिक्षा की स्थिति के बारे में विलियम एडम की पहली रिपोर्ट १८३५ में आई और दूसरी तथा तीसरी १८३८ ईस्वी में।

एडम का यह सर्वेक्षण इस अनुमान को मानकर चला कि बंगाल और बिहार की उन दिनों कुल जनसंख्या लगभग ४ करोड़ थी और वहाँ विद्यमान स्कूलों की संख्या एक लाख थी। अर्थात् हर ४०० व्यक्तियों पर एक स्कूल। इस पर अनुमान लगाते हुए एडम ने लिखा कि औसतन हर ६३ लड़कों के लिए एक स्कूल बंगाल–बिहार में है। उसका कहना था कि इन दोनों प्रान्तों में सरकारी ऑकड़ों के अनुसार १,५०,७८४ गाँव हैं। इनमें से अधिकांश में एक–एक स्कूल है। पर अधिक से अधिक लगभग एक–तिहाई गाँवों को स्कूलों के बिना मान लिया जाय, जो एडम के अनुसार 'अधिकतम कल्पना' है, तो भी एक लाख स्कूल तो अवश्य ही होंगे, ऐसा उनका अनुमान था। एडम ने लिखा कि गरीब से गरीब परिवारों के बच्चे स्कूल जाते हैं और उनके माता–पिता इस ओर ध्यान रखते हैं। इस रिपोर्ट में एडम ने लिखा कि ये स्कूल देशी लोगों की जीवन–शैली और सामाजिकता का अन्तरंग अंग हैं। प्रायः गाँव के प्रतिष्ठित व्यक्ति के घर में या उसके समीप या स्वयं किसी गुरु के ही घर में स्कूल चलते हैं। पास–पड़ोस के सभी बच्चे वहाँ आते हैं। इनमें सर्वाधिक धनी और प्रतिष्ठित परिवार के भी हैं। पांच या छः साल की वय में बच्चे पढ़ने लगते हैं। ११ वर्ष की वय तक उनकी प्राथमिक पढ़ाई पूरी हो जाती है। एडम ने इस शिक्षा की विधि का विवरण भी दिया कि पहले ८–१० दिन स्लेट पर या भूमि पर अंगुलियों से स्वर–व्यंजन लिखना सिखाया जाता है। फिर पेंसिल या सफेद मिट्टी (खड़िया) से। फिर ताड़–पत्र पर भरूई की लेखनी से। स्याही बनाने की देशी विधि भी उसने लिखी। व्यंजनों को जोड़ना, शब्द बनाना, वर्णोच्चार सीखना, गिनती सीखना, धान, भार एवं माप की गिनती सीखना, विशिष्ट व्यक्तियों, वस्तुओं एवं स्थलों के नाम लिखना सीखना आदि साल भर में सिखा दिया जाता है। आगे अंकगणित, खेत की नाप–जोख, खेती एवं वाणिज्य सम्बन्धी लेखा–जोखा सिखाया जाता है। विशेषकर गाँवों में खेती से सम्बन्धित लेखा व कस्बों–शहरों में व्यापार वाणिज्य तथा आख्यान लेख अधिक सिखाया जाता है। फिर कुछ कवितायें तथा आख्यान लिखना और याद रखना। एडम को इस पर चिन्ता थी कि वैसी कोई स्पष्ट नैतिक शिक्षा यानी 'रीलिजस' शिक्षा यहाँ इन स्कूलों में नहीं दी

जाती, जैसी इंग्लैंड में उन दिनों दी जा रही थी। इससे उसका अभिप्राय ईसाई मान्यताओं के प्रचार के अभाव से था। वह अभाव एडम को खटक रहा था।

विलियम एडम से वर्षों पहले, मद्रास के गर्वनर सर थामस मुनरो ने मद्रास प्रेसीडेन्सी के बारे में यही कहा कि ऐसा लगता है कि वहाँ हर गाँव में एक स्कूल है। सन् १८२० ई. के आसपास बम्बई प्रेसीडेन्सी के बारे में वहाँ के एक वरिष्ठ अफसर जी.एल. प्रेंडरगास्ट ने कहा कि 'हमारे क्षेत्र में शायद ही कोई छोटा–सा भी गांव ऐसा हो जहाँ एक स्कूल न हो। बड़े गाँवों में तो एक से अधिक स्कूल हैं।' १८८२ ईस्वी में डॉ.जी.डब्ल्यू. लिटनर ने पंजाब की सन् १८५० की स्थिति के बारे में लिखा कि अंग्रेजी आधिपत्य में आने से पहले पंजाब में भी लगभग हर गाँव में एक स्कूल था।

मद्रास प्रेसीडेन्सी में शिक्षा की स्थिति के बारे में जानकारी एकत्र करने हेतु गवर्नर थामस मुनरो ने एक निर्देश राजस्व–कलक्टरों को सन् १८८२ में प्रसारित किया। उसके आधार पर राज्य–मुख्य सचिव डी. हिल ने बोर्ड आफ रेवन्यु के अध्यक्ष व सदस्यों को एक पत्र लिखा। उस पर से कलेक्टरों की रिपोर्टें आयीं। उनमें विद्यालयों की संख्या, उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति एवं व्यवस्था की रूपरेखा, शिक्षकों एवं विद्यार्थियों की संख्या, उनकी सामाजिक स्थिति–जाति आदि, तथा पढ़ाए जाने वाले विषय, पुस्तकें व अध्यापन–विधि और छात्रों–अध्यापकों का योग्यता–स्तर आदि विवरण थे। गंजाम और विजगापटनम के कलेक्टरों ने लिखा कि जो तथ्य वे भेज रहे हैं, वे अभी पूरे नहीं हैं, अधूरे ही हैं। और तथ्य अभी एकत्र होने हैं। दो कलेक्टरों ने घर पर पढ़ रहे बच्चों की भी जानकारी दी। मालाबार के कलेक्टरों ने वहाँ के १५६४ विद्वानों की विस्तृत सूची भेजी जो धर्मशास्त्र, विधि, गणित, ज्योतिष, तत्व–ज्ञान, नीतिशास्त्र एवं आयुर्वेद में अपने गुरुओं के घरों में (स्कूलों व कालिजों में नहीं) निजी तौर पर अध्ययनरत थे। फरवरी, १८२६ में मद्रास के कलेक्टर ने रिपोर्ट भेजी कि उसके क्षेत्र में २६,९६३ विद्यार्थी अपने घरों में पढ़ रहे हैं। मद्रास के कलेक्टर की पहली रिपोर्ट में पढ़ रहे बच्चों की संख्या ५,६६६ दी गई है।

कलेक्टरों की रिपोर्ट मिलने पर मद्रास प्रेसीडेन्सी की सरकार ने १० मार्च १८२६ को उनकी समीक्षा की और गवर्नर सर थामस मुनरो ने निष्कर्ष–टिप्पणी की कि '५ से १० वर्ष आयु समूह के प्रेसीडेन्सी के कुल लड़कों का लगभग एक चौथाई हिस्सा स्कूलों में शिक्षा पा रहा है। घर पर पढ़ रहे बच्चे इसके अतिरिक्त हैं। घर पर पढ़ रहे बच्चों की संख्या मिलाने पर कुल लगभग एक तिहाई के करीब छात्र पढ़ रहे हैं, ऐसा निष्कर्ष निकलता है।' लड़कियों की स्कूली शिक्षा

की कमी के बारे में थामस मुनरो ने यह स्पष्टीकरण किया कि उनकी पढ़ाई मुख्यतः घरों में होती है।

इस रिपोर्ट से प्राप्त स्कूलों एवं विद्यार्थियों की संख्या सम्बन्धी विवरण सारणी क्रमांक १ व २ में है:

विद्यार्थियों की जातिवार संख्या का विवरण उस बहुप्रचारित एवं प्रतिष्ठित मान्यता को ध्वस्त करता है, जो हमारे नवप्रबुद्ध वर्ग में विगत १०० वर्षों से अधिक समय से गहरी होती गई है कि भारत में शिक्षा हिन्दुओं में मुख्यतः द्विजों तक सीमित थी और मुसलमानों में प्रतिष्ठित घरों तक ही। प्रस्तुत ऑकड़े तो इससे विपरित तथ्य ही प्रकट करते हैं। तमिल भाषी क्षेत्रों में दक्षिणी अर्काट में वहाँ पढ़ रहे कुल बच्चों में १३ % द्विज कही जानी वाली जातियों के हैं और मद्रास में २३ %। वहीं शूद्र कही जाने वाली जातियों के स्कूल में पढ़ रहे छात्रों की संख्या क्रमशः ७६.१६ एवं ६८.६२ प्रतिशत है। सेलम में तथाकथित शूद्रों एवं अन्य द्विजेतर या वर्णोत्तर (पंचम वर्ण) जातियों के स्कूली बच्चों की संख्या ६६.७६ प्रतिशत है जबकि तथाकथित द्विजों की लगभग १५%। चिंगलपेट में शूद्र माने जाने वाले जाति समूहों के छात्र ७१.४७ % हैं, तंजौर में ६१.१७ %। तथाकथित पंचम वर्ण एवं शूद्र मिलाकर गैर–द्विज जातियों के बच्चे दोनों स्थानों में क्रमशः ७८ एवं ७५ प्रतिशत से कुछ अधिक हैं। तिन्नेवेल्ली में उन दोनों की संख्या ८१ % अधिक है। मालाबार में तथाकथित द्विज छात्र २० % से भी कम हैं और तथाकथित शूद्र तथा अवर्ण जातियों के ५४ प्रतिशत के लगभग। कन्नड़ भाषी बेल्लारी में तथाकथित द्विज जाति के छात्रों की संख्या अधिक है– ३३ % तक, पर वह संख्या भी शूद्रों एवं अवर्ण जातियों के ६३ प्रतिशत से लगभग आधी ही है। उड़िया भाषी गंजाम जिले में प्रायः ऐसी ही स्थिति है। मात्र तेलुगुभाषी क्षेत्र में द्विज छात्रों की संख्या तथाकथित शूद्रों एवं अवर्ण के पढ़ रहे बच्चों की संख्या से कुछ अधिक है। विजगापट्टनम् में ब्राह्मण लड़के ४६ % हैं, तथा शूद्र एवं अवर्ण छात्र मिलाकर लगभग १ % हैं, नेल्लोर में ब्राह्मण लड़के ३२.६१ % हैं और शूद्र तथा अवर्ण लड़के ३७.५४ प्रतिशत। कडप्पा में ब्राह्मण छात्र २४ % हैं तथा शूद्र एवं अवर्ण छात्र ४१ %।

स्कूल में पढ़ रही लड़कियों की संख्या बहुत कम है। जो लड़कियाँ पढ़ने जाती थीं, उनमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य लड़कियों की संख्या कम होती थी, शूद्र एवं अन्य अवर्ण जातियों की लड़कियों की संख्या कुछ अधिक। उनका संक्षिप्त विवरण सारणी क्रमांक ३ में है–

सारणी कमांक – १

स्कूल और कॉलेजों का विवरण

कोष्ठक में दिए भिन्न जनसंख्या के आंकड़े कलक्टरों द्वारा शिक्षा का विवरण के साथ भेजे गए

क्षेत्र	स्कूल		कॉलेज		कुल जनसंख्या १८२३	टिप्पणी
	संख्या	विद्यार्थी	संख्या	विद्यार्थी	का अनुमान	
उड़ीया भाषी						
गंजाम	२५५	२,६७७	——	——	३,३२,०१५	आंशिक विवरण
	——	——	——	——	(३,७५,२८१)	अग्रहारय में निजी स्तर पर
तेलुगु भाषी						
विजगापट्टम	६१४	६,७१५	——	——	७,७२,५७०	अधूरा विवरण
					(६,४१,००४)	——
राजमुंदरी	२६१	२,६५८	२७६	१,४५१७	७,३८,३०८	——
मसुलीपट्टम	४८४	५,०८३	४६	१६६	५,२६,८४६	——
गूंटूर	५७४	७,७२४	१७१	६३६	४,५४,७५४	निजी स्तर पर अध्ययन
नेल्लोर	६६७	७,६२१	१०७	——	८,३६,६४७	स्कूल के योग में सम्मिलित
कुडप्पा	४६४	६,०००	——	——	१०,६४,४६०	निजी अध्ययन
	कुलः–३८,८०१					
कन्नड़ भाषी						
बेल्लारी	५१०	६,६४१	२३	——	६,२७,८५७	स्कूल के योगमें सम्मिलित
श्रीरंगपट्टम	४१	६२७	——	——	३१,६१२	——
	कुलः–७,२६८					
मलयालम भाषी						
मलबार	७५६	१४,१५३	१	७५	६,०७,५७५	निजी अध्ययनवालों का विवरण
उत्तर अर्काट	६३०	७,३२६	६६	४१८	८,६२,२६२	——
दक्षिणी अर्काट	८७५	१०,५२३	——	——	४,५५,०२०	——
					(४,२०,५३०)	
चिंगलपेट	५०८	६,८४५	५१	३६८	३,६३,१२६	
तंजौर	८८४	१७,५८२	१०६	७६६	६,०१,३५३	
तिरुचिनापल्ली	७६०	१०,३३६	६	१३१	४,८१,२६२	
मदुरा	८४४	१३,७६१	——	——	७,८८,१६६	निजी स्तर पर अग्रहारय में
तिन्नेवेल्ली	६०७	६,३७७	——	——	५,६४,६५७	
कोयम्बटूर	७६३	८,२०६	१७३	७२४	६,३८,१९९	
सेलम	३३३	४,३२६	५३	३२४	१०,७५,६८५	
मद्रास	३२२	५,६६६	——	——	४,६२,०५१	निजी स्तर पर
कुलः	६३,६६६	१,५७,१६५	१,०६४	५,४३१	१,२८,५०,६४१	

सारणी क्रमांक – २

मद्रास प्रेसीडेंसी स्कूल में जाने वाले लड़कों की संख्या का जातिगत विवरण(कोष्टक में प्रतिशत दर्ज है)

जिला	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शुद्र	अन्य जाति	मुसलमान	कुल १००:लड़कों का योग
उड़ीया भाषी							
गंजाम	८०८ (३०.२५)	—	२४३ (८.२४)	१,००१ (३३.७६)	८८६ (२६.८८)	२७ (०.६१)	२,६६५
तेलुगु भाषी							
विजगापट्टम	४,३४५ (४६.१६)	१०३ (१.०६)	६८३ (१०.४४)	१,६६६ (२१.२४)	१,८८५ (२०.०३)	९७ (१.०३)	९,४१२
राजमुंदरी	६०४ (३४.४६)	—	६५३ (२४.६१)	४६६ (१७.२८)	५४६ (२०.८३)	५२ (१.६८)	२,६२१
मसुलीपट्टम	१,६७३ (३३.१३)	१८ (०.३६)	१,१०८ (२१.६४)	१,५०६ (२६.८२)	४७० (६.३०)	२७५ (५.४४)	५,०५०
गुंटूर	३,०८६ (४०.५३)	—	१,५७८ (२०.७०)	१,६२३ (२५.२३)	७७५ (१०.१७)	२५७ (३.३७)	७,६२२
नेल्लोर	२,४६६ (३२.६१)	—	१,६४१ (२१.७०)	२,४०७ (३१.८३)	४३२ (५.७१)	६१७ (८.१६)	७,५६३
कुडप्पा	१,४१६ (२४.०२)	—	१,७१३ (२६.०७)	१,७७५ (३०.१३)	६४७ (१०.६८)	३४१ (५.७६)	५,८६२
कन्नड़ भाषी							
बेल्लारी	१,१८५ (१८.०१)	—	६८१ (१४.६१)	२,६६८ (४५.५६)	१,१७४ (१७.८४)	२४३ (३.६६)	६,५८१
श्रीरंगपट्टम	४८ (७.८३)	—	२३ (३.७५)	२६८ (४०.६१)	१५८ (२५.७७)	८६ (१४.०२)	६१३
मलयालम भाषी							
मलबार	२,२३० (१८.६४)	—	८४ (०.७०)	३,६६७ (३०.६०)	२,७५६ (२३.०४)	३,१६६ (२६.७२)	११,६६३
तमिल भाषी							
उत्तर अर्काट	६६८ (६.६०)	—	६३० (८.६६)	४,८५६ (६६.७६)	५३८ (७.४०)	५५२ (७.५६)	७,२७४
दक्षिण अर्काट	६६७ (६.५७)	—	३७० (३.५५)	७,६३८ (७६.१६)	८६२ (८.२७)	२५२ (२.४२)	१०,४१६
चिंगलपेट	८५८ (१२.७५)	—	४२४ (६.३०)	४,८०६ (७१.४७)	४५२ (६.७२)	१८६ (२.७६)	६,७२६
तंजौर	२,८१७ (१६.१६)	३६६ (२.१२)	२२२ (१.२७)	१०,६६१ (६१.१७)	२,४२६ (१३.६२)	६३३ (५.३२)	१७,४२८
तिरुचिनापल्ली	१,१६८ (११.७६)	—	२२६ (२.२५)	७,७४५	३२६	६६०	१०,१६१
मदुरा	१,१८६ (८.६७)	—	१,११६ (८.१८)	७,२४७ (५२.६६)	२,६७७ (२१.७७)	१,१४७ (८.३६)	१३,६७६
तिन्नेवेल्ली	२,०१६ (२१.७८)	—	—	२,८८६ (३१.२१)	३,५५७ (३८.४२)	७६६ (८.६०)	६,२५८
कोयम्बटूर	६१८ (११.३०)	—	२८६ (३.५६)	६,३७६ (७८.५२)	२२६ (२.७८)	३१२ (३.८४)	८,१२४
सेलम	४५६ (१०.७५)	—	३२४ (७.५६)	१,६७१ (३६.१५)	१,३८२ (३२.३८)	४३२ (१०.१२)	४,२६८
मद्रास							
(१)सामान्य स्कूल	३५८ (७.०१)	—	७८६ (१५.४४)	३,५०६ (६८.६२)	३१३ (६.१३)	१४३ (२.८०)	५,१०६
(२)धर्मार्थ स्कूल	५२ (१२.५६)	—	४६ (११.११)	१७२ (४१.५५)	१३४ (३२.३७)	१० (२.४२)	४१४

मालाबार क्षेत्र में स्कूल में पढ़ रही लड़कियों की संख्या अपेक्षाकृत अच्छी है। वहाँ मुसलमान लड़कियों की संख्या भी अपेक्षाकृत बहुत ऊँची है। उसका विवरण यह है :–

मालाबार							
	ब्रह्मण	वैश्य	शूद्र	अन्य जाति	मुसलमान	कुल छात्र	कुल स्त्रियों की संख्या
(1) स्कूल	5	13	707	343	1122	2190	.....
(2) निजी स्तर उच्च अध्ययन	3	5	19	14	....	41	
(क) तत्व ज्ञान एवं विधि	3	....	....	....	......	3	4,49,207
(ख) गणित ज्योतिष	...	5	19	14	.....	38	

जबकि मुस्लिम लड़कों की संख्या ३१६६ थी, उस समय मुस्लिम लड़कियों की संख्या ११२२ इतना ऊँचा अनुपात तो १६२० व १६३० ईस्वी में भी नहीं रहा होगा।

बंगाल के पांच जिलों को लेकर इस विषय में एडम की जो रिपोर्ट है, वह अधिक विस्तृत है और उसमें छात्र, शिक्षक, विषय, पुस्तकें एवं विद्या–व्यवस्था से सम्बन्धित सामग्री का विस्तार है। उससे बंगाल में शिक्षकों की जातियों का परिचय भी मिलता है और फिर यह स्थापना ध्वस्त होती है कि अध्यापन पर ब्राह्मणों का एकाधिकार रहा है। एडम की रिपोर्ट से छात्रों की जातीय संरचना के बारे में भी वही तथ्य मिलते हैं, जो मद्रास प्रेसीडेन्सी की रिपोर्ट में हैं, यानी शूद्र और तथाकथित अन्त्यज जातियों डोम, चांडाल, जालिया, ब्याधा, ढांगर के छात्र भी इन विद्यालयों में पढ़ते ही है। इनमें ब्राह्मण, राजपूत, क्षैत्री, कायस्थ के साथ–साथ कैवर्त, सुवर्णबनिक, तौंती, सुनरी, तैली, मैरा, अगुरी, सदगोप, गंधबनिक, वैद्य, सुनार, कमार, बरई, स्वर्णकार, नापित, ग्वाला, तमौली, कहार, डोम, कैरी, मागध, कुम्हार, कुर्मी, युगी, दवैज्ञ, चांडाल, जालिया, पासी, धोना, भट्ट, माली, कलवार, लुनियार, खटीक, बढ़ई, माला, अगरदानी, ओसवाल, कांडू, माटिया, धनूका, दुसाध, गरेरी, कलाल, कंसारी, चूड़िहार, मुशहर, केवट, पुनरा, केलदार, बहेलिया, भूमिया, कौरी, धूलिया, ब्यौधा, ढांगर, संथाल, तिवाड़, कुन्यार आदि आदि जातियों के छात्र हैं। (सारणी क्रमांक ४ देखें)

स्पष्ट है कि शिक्षकों में वे जातियाँ भी सम्मिलित हैं, जिन्हें अस्पृश्य बताया जाता है। कायस्थ शिक्षकों की संख्या ब्राह्मणों से अधिक है। साधारण

स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकें एडम की रिपोर्ट में वर्णित हैं, इनमें साहित्य में रामजन्म व सुन्दरकांड (रामचरितमानस), आदिपर्व (महाभारत), सूर्य पुराण (पुराण अंश), गीत गोविन्द, हितोपदेश (संस्कृत), नीतिकथा (बांगला), दान लीला, गुरु वंदना, सरस्वती वंदना, दाता कर्ण, गंगा वंदना, नीति वाक्य आदि; व्याकरण में शब्द सुनंत, अमरकोश, अष्टधातु, अष्टशब्दी आदि; गणित में शुभंकर, और उग्र बलराम; ज्योतिष में ज्योतिष विवरण, दिग्दर्शन आदि सम्मिलित हैं। इससे आगे के अध्ययन में पाणिनीय अष्टाध्यायी, पंतजलि का महाभाष्य, सिद्धान्त कौमुदी, सिद्धान्त मंजूषा, लघु कौमुदी, सरस्वती प्रक्रिया आदि व्याकरण ग्रंथ, शाकुंतल, रघुवंश, नैषध, कुमार संभव तथा भट्टि, माघ, दंडी, भारवि आदि की साहित्यिक रचनाएं तथा काव्य प्रकाश, साहित्य दर्पण आदि काव्य विवेचक ग्रंथ, तिथि तत्त्व, प्रायश्चित्त–तत्त्व, शुद्धि तत्त्व, श्राद्ध तत्त्व, आन्हिक तत्त्व, समयशुद्धि तत्त्व, ज्योतिष तत्त्व, प्रायश्चित्त विवेक, मिताक्षरा, श्राद्धविवेक, विवाह तत्त्व, दाय तत्त्व आदि विधि ग्रंथ एवं वेदान्त, सांख्य, मीमांसा, तंत्र, तर्कशास्त्र, गणित, फालित ज्योतिष आदि के ग्रंथ पढ़ाये जाने का विवरण है। फारसी और अरबी स्कूलों में गुलिस्तां शाहनामा, युसुफ और जुलेखा, अल्लामी, सिराजिया, हिदाया, मिसकातुल, मिसाबी, मीजान, मिसवा, काफिन्या, तहजीब, कुरान आदि पढ़ाये जाने के विवरण हैं। फारसी–अरबी स्कूलों में मुसलमान शिक्षकों के साथ ब्राह्मण, कायस्थ, दैवज्ञ और गंध बनिक जाति के भी शिक्षक हैं और छात्र भी विविध हिन्दू जातियों के तथा मुसलमान हैं। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि बंगाल–बिहार में बांगला, हिन्दी एवं संस्कृत तथा मद्रास में क्षेत्रानुसार तामिल, तेलगु, कन्नड़ एवं उड़िया तथा संस्कृत शिक्षा का माध्यम थी। उस प्रकार लिटनर की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि पंजाब में शिक्षा का माध्यम थी – पंजाबी, हिन्दी एवं संस्कृत। लिटनर ने पंजाब की शिक्षा के विवरण देते हुए लिखा कि यहाँ भी देश के अन्य हिस्सों की तरह विद्या का सम्मान है। ऐसा एक भी मंदिर, मस्जिद या धर्मशाला नहीं, जहाँ एक स्कूल न हो। हर ग्रामीण अपने यहां के शिक्षक को अपने उत्पादन का एक अंश देने में गर्व का अनुभव करता है, यह भी लिटनर ने लिखा है। लिटनर ने पंजाब में पाँच तरह के स्कूल–वर्ग गिनाए। १. गुरुमुखी स्कूल २. मकतब–मदरसा और कुरान स्कूल ३. चटसाल, पाठशाला एवं सेकुलर हिन्दू स्कूल ४. मिश्रित शिक्षा–संस्थाएं – फारसी, वर्नाकुलर और एंग्लो वर्नाकुलर स्कूल तथा ५. सिखों, मुसलमानों एवं हिन्दुओं की लड़कियों के स्कूल। इनमें से हिन्दू लड़कियों को घर पर ही पढ़ाया जाता था, यह लिटनर ने लिखा। लिटनर ने हिसाब लगाकर लिखा कि १८५0 ईस्वी में पंजाब पर ब्रिटिश आधिपत्य से

सारणी कमांक ३

छात्राओं का जातिवार विवरण

जिला	ब्राह्मण	वैश्य	शूद्र	अन्य जातियां	मुसलमान	कुल छात्राएं	कुल नारी जनसंख्या
उड़ीया भाषी							
गंजाम	—	—	२	१०	———	१२	१,७६,१११
तेलुगु भाषी							
विजगापट्नम	६६	—	७३	१३१	———	३०३	४,५८,६१४
जयपुर राज्य	६४	—	७१	६४	———	२२६	३६,४१६
राजमुंदरी	३	—	६	२८	———	३७	३,४४,७६६
मसुलीपट्टम	१	—	१	२६	२	३३	२,४०,६८३
गुंटूर	५	—	३७	५७	३	१०२	२,१०,६८५
नेल्लोर	—	—	५५	—	३	५८	४,०६,६२७
कुडप्पा	—	—	६८	३६	१	१०८	५,१५,६६६
कन्नड़ भाषी							
बेल्लारी	२	१	२६	३१	———	६०	४,३८,१८४
श्रीरंगपट्टम	—	—	१४	—	———	१४	१६,७६१
तमिल भाषी							
उत्तर अर्काट	१	—	३२	८	११	५२	२,७८,४८१
दक्षिण अर्काट	३	—	६४	१०	———	१०४	२,०२,५५६
चिंगलपट	३	—	७६	३४	———	११६	१,७२,८८६
तंजौर	—	—	१२५	२६	———	१५४	१,८७,१४५
तिरुचिनापल्ली	—	—	६६	१८	५६	१४०	२,३३,७२३
मदुरा	—	—	६५	४०	———	१०५	३,८६,६८२
तिन्नेवेल्ली	—	—	—	११७	२	११६	२,८१,२३८
कोयम्बटूर	—	—	८२	—	———	८२	३,२१,२६८
सेलम	—	—	३	२८	२७	५८	५,३३,४८५
मद्रास							
१.सामान्य स्कूल	१	६	११३	४	———	१२७	
२.धर्मार्थ स्कूल	—	२	—	४७	———	४६	७,३३,४१५
३.घर पर	६८	६३	—	२२०	१३६	५१७	

सारणी क्रमांक ४

बंगाल के शिक्षकों का जातिगत विवरण

जाति	मुर्शिदाबाद	वीरभूम	बर्दगन	दक्षिणी बिहार	तिरहुत	मिदनापुर
कुल शिक्षक	६७	४१२	६३६	२८५	८०	७७८
औसत वय	४४.३ वर्ष	३६.३ वर्ष	३६.०५ वर्ष	३६ वर्ष	३४.८ वर्ष	
जातिगत विवरण						
मुस्लिम शिक्षक	१	४	६	१	—	—
ईसाई शिक्षक	—	१	३	—	—	—
कायस्थ	३६	२५६	३६६	२७८	७७	—
ब्राह्मण	१४	८६	१०७	—	१	—
अगुरी	३	२	३०	—	—	—
स्द्गोप	१	१२	५०	—	—	—
वैष्णव	—	८	१३	—	—	—
नापित	—	१	३	—	—	—
थरई	—	१	१	—	—	—
भट्ट	—	४	६	—	—	—
तेली	—	—	१०	१	—	—
कैवर्त	२	४	५	—	—	—
सुनरी	२	२	१	—	—	—
धोवा	—	१	१	—	—	—
वैद्य	१	२	१	—	—	—
सुवर्णवनिक	१	५	२	—	—	—
क्षेत्रि	१	—	—	—	—	—
छत्री	१	१	—	—	—	—
भालो	—	१	—	—	—	—
चांडाल	१	१	४	—	—	—
कुम्हार	—	—	३	—	—	—
गंधवनिक	—	५	६	१	२	—
मैरा	—	४	१	—	—	—
ग्वाला	—	३	२	—	—	—
युगी	—	२	१	—	—	—
तांती	—	२	१	—	—	—
कालू	—	२	१	—	—	—
स्वर्णकार	—	१	—	—	—	—
कैरी	—	—	—	१	—	—
राजपूत	—	१	१	—	—	—
बागवी	—	—	२	—	—	—
नागा	—	—	१	—	—	—
दैवस्व	—	—	१	—	—	—
कमार	—	—	१	—	—	—
मागध	—	—	—	२	—	—
सोनार	—	—	—	१	—	—

पूर्व कम से कम ३ लाख ३0 हजार छात्र–छात्राएं पंजाब में पढ़ रहे थे। जबकि १८८२ ई. में एक लाख नब्बे हजार के लगभग ही पढ़ रहे हैं। पढ़ाये जाने वाले विषयों का जो विवरण उन्होंने दिया, उनमें गणित, व्याकरण, ज्योतिष, तर्क, आयुर्वेद विधि, दर्शन और संस्कृत साहित्य के प्रायः वे ही ग्रंथ हैं, जो मद्रास या बंगाल में। क्षेत्रीय साहित्य की पुस्तकें, कथा–कहानी, नाटक, नीतिकथा आदि अंशतः प्रत्येक क्षेत्र में प्रायः स्थानीय होती थी। इस प्रकार शिक्षा का अखिल भारतीय और स्वाभाविक क्षेत्रीय रूप साथ–साथ दिखता है।

शिक्षा के ये विवरण स्पष्ट करते हैं कि भारत उन दिनों शिक्षा की दृष्टि से हीन नहीं था और महात्मा गॉधी का सन् १९३१ में लन्दन की एक विशिष्ट सभा में कहा गया यह कथन पूर्णतः प्रामाणिक था कि अंग्रेजी राज्य में भारत में शिक्षितों की संख्या घटी है क्योंकि अंग्रेजों ने स्वदेशी विद्या के 'सुन्दर वृक्ष' की जड़ों को खोदकर देखा और फिर वे खुदी हुई जड़ें खुली ही रहने दीं।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी

यह एक बहुप्रचारित मान्यता हो गई है कि विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी में हमारे पिछड़ेपन और ब्रिटेन के आगे बढ़े होने के कारण हम ब्रिटेन से हार गए और इस प्रकार ब्रिटेन की जीत दूसरों को नष्ट कर डालने और रूपांतरित कर अपने अनुकूल बनाने को सन्नद्ध राजनीति और दृष्टि की जीत नहीं रह जाती, अपितु अधिकांश नवप्रबुद्ध भारतीयों की दृष्टि में वह सत्य और प्रगति की खोज में समर्पित विज्ञान और प्रौद्योगिकी की मानवीय विजयगाथा बन जाती है। अतः यथार्थ स्थिति को जानना आधारभूत बात है। आज तो उस दिशा में कुछेक विद्वानों ने प्रयास किया है और तथ्यों की जानकारी बढ़ रही है।

लोहा और इस्पात भारत में बहुत प्राचीन काल से उत्पादित हो रहा है। विश्व भर में उसकी ख्याति थी और उसकी उत्कृष्टता प्रसिद्ध थी। उत्तर प्रदेश के अतिरंजन खेड़ा जैसी जगहों में कम से कम १२ वीं शती ईसा से पूर्व से लोहा ढाला जा रहा था, यह अब अनेक लोगों को ज्ञात है। किन्तु अठारहवीं शती ईस्वी में भारत में यह उद्योग कितना फल–फूल रहा था, इसकी तकनीकी कितनी परिष्कृत थी, यह बहुत कम लोगों को आज याद है।

सन् १७९४ ई. में डॉ. एच. स्काट ने ब्रिटिश रायल सोसायटी के अध्यक्ष सर जे. बैंक्स को भारतीय 'वुटज' इस्पात का एक नमूना भेजा। इंग्लैंड के अनेक विशेषज्ञों ने उसका विस्तृत परीक्षण किया। तब पाया गया कि उन दिनों ब्रिटेन में जो सर्वोत्तम इस्पात प्रयोग में आ रहा है, उससे इस भारतीय इस्पात का साम्य है। उसकी माँग हुई और यह माँग बढ़ती रही। उसकी तकनीकी विशेषता

पर पहले अंग्रेजों को संशय रहा। वे भारतीय कच्चे लोहे की विशेषता मानते रहे, पर भारतीय तकनीकी को अविकसित बताते रहे। कई वर्षों के बाद उन्हें उस तकनीकी की भी उत्कृष्टता ध्यान में आई। जे. एम. हीथ ने लिखा – 'भारतीय इस्पात–निर्माण की प्रक्रिया में, ऐसा लगता है कि एक बन्द पात्र में पिघले लोहे को कार्बनीकृत हाईड्रोजन गैस से अति उच्च तापमान में गुजारने पर कार्बन संयोग से लोहा इस्पात में बदलने की विधि का प्रयोग किया जाता है। इससे इस्पात बनने में समय कम लगता है, जबकि ब्रिटेन में प्रचलित पुरानी विधि में १४ से २0 दिन लगते हैं। ....भारतीय लोग ढाई घंटे में ही लोहे को इस्पात में ढालने में समर्थ हैं और वह भी इंग्लैंड में प्रयुक्त ताप से कम मात्रा में ताप का प्रयोग करते हुए।' यद्यपि हीथ यह मानने को तैयार नहीं थे कि भारतीयों को रसायन–शास्त्र के उस सिद्धान्त का भी ज्ञान हो सकता है, जो कि इंग्लैंड में ताप द्वारा लोहे को इस्पात में ढालने के आधार के रुप में निरूपित किया गया था। पर वे यह बता रहे थे कि व्यवहार में भारतीय यह कठिन–कौशल सम्पन्न कर लेते हैं।

भारतीय इस्पात में अंग्रेजों की इस व्यावहारिक रुचि के फलस्वरूप अंग्रेजों द्वारा भारत में इस्पात–निर्माण से सम्बन्धित तथ्यों के अनेक वृत्तान्त तैयार किये गये। भारत के विविध हिस्सों में अनेक स्थानों में अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध व उन्नीसवीं शती के आरम्भ तक लोहे व इस्पात के निर्माण के काम से सम्बन्धित वृतान्त उन्होंने लिखे व प्रकाशित किये।

डॉ. बेंजामिन हेन ने १७९५ में लिखा कि नूजीद क्षेत्र में अनेक स्थानों पर लोहे की भट्ठियाँ हैं, जहाँ सामान्य प्रयोग हेतु लोहा तैयार किया जाता है। ऐसे ही एक स्थान रमन का पेठा का हेन ने कुछ विस्तार से विवरण दिया। यहाँ स्मरणीय है कि नूजीद क्षेत्र की जनसंख्या १७८६ ईस्वी में एक लाख से ऊपर थी। १७९0–९२ में वहाँ अकाल पड़ा और जनसंख्या लगभग आधी – ५७ हजार के करीब रह गयी। हेन के अनुसार 'रमन का पेठा' में अकाल से पहले ४0 लोहे की भट्ठियाँ थीं और अनेक सम्पन्न सुनार पर तथा तंबेर भी थे। अकाल के बाद वे दरिद्र हो गये। वह वहाँ की भट्ठियाँ की कार्य–पद्धति का कुछ ब्यौरा देते हैं और बताते हैं कि यहाँ कच्चा माल काफी है, ईंधन के लिए बढ़िया जंगल पास में है तथा कुशल लोग भी उपलब्ध हैं। ठेके पर उन्हें काम दिया जा सकता है। अतः भारत में ब्रिटिश तंत्र को इस ओर ध्यान देना चाहिए। वह यह भी बताते हैं कि इसी क्षेत्र में ऐसे–ऐसे ६ गाँव और हैं, जहाँ बराबर लोहा बनाया जाता है।

ब्रिटिश बंगाल सेना के मेजर जेम्स फ्रेंकलिन ने ई. १८२९ के आसपास मध्य भारत में लोहा बनाने की विधियों के बारे में लिखा। जबलपुर जिले में अगरिया, गटना, लमतरा, बेला, मंगैला, जौली, इमलिया और बड़ागाँव में; नर्मदा

के दक्षिण में डंगराई गाँव में; पन्ना जिले में बृजपुर के पास सिमरिया गाँव में; केन और धसान नदियों के मध्य के क्षेत्र में पांडव पहाड़ियों, अमरौनिया, महगाँव और मोतिही में; मध्य प्रदेश के कोटा जिले में, सैगढ़ और चन्द्रपुर में; उससे पश्चिम में पिपरिया, रेजकोई और कंजरा में तथा आगे बजाना में लोहे की खानें हैं तथा उससे आगे सेरवा, हीरपुर, तिघोरा, और मंडवरा में। यमुना तट पर सरई और धौरीसागर में, तथा खटोला से ग्वालियर के बीच की लगभग सभी पहाड़ियों में खदानें होने की सूचना फ्रेंकलिन देते हैं। कालिंजर और अजयगढ़ की पहाड़ियों का भी ब्यौरा देते हैं। सागर जिले में तेंदूखेड़ा में कच्चे लोहे के विविध रूपों गुलकू, सुरमा, पीरा और काला तथा देवी साही कच्चे लोहे का वृत्तान्त लिखते हैं। साथ ही, इन इलाकों में लोहे की भट्ठियों की श्रृंखला होने की भी सूचना देते हैं। भट्ठियों की आकृति बनावट, कार्य–पद्धति, ईधन का स्वरूप, पिघलाव–भट्ठी और शोधन–विधि, उत्पादन का स्तर व मात्रा आदि का विवरण यह लेखक देते हैं। उसके भार, लागत, बिक्री, मुनाफे आदि का भी अन्दाजा लगाते हैं तथा इस विधि को समझने की ओर अंग्रेजों द्वारा ध्यान दिया जाना आवश्यक समझते हैं क्योंकि उससे अच्छे लाभ की सम्भावना उन्हें दिखती है।

मद्रास के असिस्टेंट सर्वेयर जनरल कैप्टेन जे. कैम्पबेल ने दक्षिण भारत में तैयार किये जाने वाले चार तरह के भारतीय लोहे का विवरण इंग्लैंड को भेजा। इसमें कच्चा माल, भट्ठी ईधन, निर्माण–विधि आदि का विवरण था, ताकि ब्रिटिश लोहा–निर्माता एवं लोहा–व्यापारी उस ज्ञान का लाभ उठा सकें।

मेरा अनुमान है कि १८०० ईस्वी के आसपास में लगभग १०,००० भट्ठियाँ थीं जिनमें लोहा और इस्पात बनता था। यदि वर्ष में ३०–४० सप्ताह इन पर कार्य होता होगा, तो इनमें से प्रत्येक की उत्पादन क्षमता २० टन बढ़िया इस्पात प्रतिवर्ष की थी। ये भट्ठियाँ वजन में हल्की होती थीं और बैलगाड़ी में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाई जा सकती थीं। इस प्रकार बढ़िया लोहा एवं इस्पात बनाने में उस समय भारत के लोहा बनाने वाले ब्रिटेन के लोहा बनाने वालों से आगे दिखते हैं।

१८ वीं शती ईस्वी में भारत में बर्फ बनाने की तकनीक भी विकसित थी। इलाहाबाद जैसे स्थानों पर बर्फ बनाये जाने का विवरण कुछेक तत्कालीन अंग्रेजों ने दिया है। सन पौधे के उपयोग से कागज बनाये जाने का विवरण भी मिलता है। डामर बनाये जाने, गारा बनाये जाने, रंगाई के विविध रसायन बनाने की प्रौद्योगिकी भी १८ वीं शती ई. के भारत में सुविकसित थी।

खेती और सिंचाई की व्यवस्था में भारत अति प्राचीन काल से समुन्नत रहा है तथा १८ वीं शती ई. में भी फसल–चक्र, खाद–प्रयोग, वपित्र से बुवाई तथा अन्य उन्नत कृषि–प्रौद्योगिकी का भारत में प्रचुर उपयोग होता था। हमारे

गाय–बैल पर्याप्त ह्रष्ट–पुष्ट होते थे। खाद्यान्न, तिलहन, दलहन, फल, सब्जी, वृक्ष, वनोपज, बागवानी आदि की उन्नत प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान भारत में विद्यमान था। प्रत्येक कृषि–कर्म की बहुत गहरी समझ, तकनीकी निपुणता, परिष्कृत बोध, सूक्ष्म संवेदना, कुशल प्रबन्ध एवं सक्षम भंडारण का ज्ञान यहाँ व्यापक था। अकाल, सुकाल, वर्षागम, शरदागम आदि काल–ज्ञान, ऋतु–ज्ञान, वायु–प्रवाह का ज्ञान, उसके परिणामों का ज्ञान, फसल के लक्षणों, रोगों, रोग के उपचारों का ज्ञान, फलों और अनाजों की विविध किस्मों और उनके गुण–धर्म प्रभावों का ज्ञान, बीजों की पहचान, पशुओं की नस्ल व क्षमता की पहचान, पशु–पालन एवं पशु–आहार का ज्ञान, यह सब भी १८ वीं शती ईस्वी के भारत में पर्याप्त समृद्ध था। कृषि और बागवानी के उत्कृष्ट उपकरण विद्यमान थे। रहट, ढेंकुरी, विविध तरह के हल, पनचक्की, हंसिया, खुरपी, खुरपा, गोदना, ओखल, मूसल, ढेंकर बरवर, पाटा आदि व्यापक प्रचलित उपकरण थे। लड़की और लोहे के कारीगरों–बढ़ई और लुहार के यंत्रों की स्थिति भी अच्छी थी। निराई–गुड़ाई, कटाई–गहाई, उड़ावनी आदि की तकनीकी का यहाँ विस्तृत ज्ञान था। सिंचाई के अत्यन्त समुन्नत तरीके थे, जिससे कि भूमिगत जल एवं वर्षा–जल का सर्वोत्तम सदुपयोग हो। स्वयं राजस्थान में सरों और सरोवरों की सुव्यवस्था के द्वारा कठोर ऋतु–दशा एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में भी समाज को गतिशील रखने के पर्याप्त प्रबन्ध थे, यह आप सब जानते ही हैं। जल के सदुपयोग की चेतना राजस्थान में अत्यन्त विकसित रही है। मद्रास प्रेसीडेन्सी और मैसूर राज्य में करीब एक लाख बड़े–छोटे सिंचाई के तालाब १८०० ईस्वी के आस–पास थे, ऐसा माना जाता है। उनकी ब्रिटिश राज में उपेक्षा होने पर बहुत से तालाब १८५० ई. तक समाप्त हो गये। तालाब तथा अन्य सिंचाई स्रोतों की देखभाल तथा मरम्मत के लिए दक्षिण में कुल कृषि–उपज का एक अंश सुरक्षित रखने की परम्परा रही थी। उसी से यह व्यवस्था सुचारु एवं गतिशील रहती थी। शायद राजस्थान एवं अन्य क्षेत्रों में भी ऐसी ही कुछ व्यवस्था रही हो।

सन् १८०० ई. के आसपास भारतीय खेती की उपज–दर इंग्लैंड की कृषि–उपज–दर से दुगुनी व तिगुनी तक थी। भारत में कृषि का अधिकांश काम किसान स्वयं करते थे, जबकि इंग्लैंड में अधिकतर खेती का काम कृषि–दासों और मजदूरों से ही लिया जाता था।

जैसा कि हम सब जानते हैं, कपड़ा बनाने का उद्योग भी भारत में पुरातन काल से है। यह भी सब जानते ही हैं कि १८ वीं शती ई. में भी भारतीय वस्त्रोद्योग विकसित था और यहाँ से बहुत–सा कपड़ा, विदेशों, विशेषकर यूरोप में जाता था। भारत के सूती कपड़ों से जब इंग्लैंड का बाजार भरने लगा, तब वहाँ भारतीय कपड़ों के आयात के विरुद्ध आन्दोलन हुए। भारतीय बुनकरों का

कौशल विश्वप्रसिद्ध था। भारत के गाँवों व कस्बों–शहरों में कपास की धुनाई, सूत आदि की कताई, कपड़ों की बुनाई, छपाई, रंगाई आदि के काम व्यापक स्तर पर होते थे, यह भी सर्वविदित ही है।

सन् १८१० ई. के आसपास के ब्रिटिश भारतीय आंकड़ों से पता चलता है कि दक्षिणी भारत के जिलों में सूती, रेशमी आदि कपड़ा बनाने और निवाड़ आदि तैयार करने के काम आने वाली खड्डियों की संख्या १५ से २० हजार तक प्रति जिले में थी। ऐसा लगता है कि देश भर में प्रायः सर्वत्र हर जिले में लगभग इतनी खड्डियाँ रही हो सकती हैं। बुनने वाले बुनकरों की संख्या तो खड्डियों की संख्या से अधिक ही होगी। कातने वालों की तो अनगिनत ही होगी। धुनाई, रंगाई, छपाई आदि का काम करने वाले धुनिया, रंगसाज, छीपी आदि की संख्या भी इसी अनुपात में होगी। भारतीय वस्त्रोद्योग के विनाश से ये सब लोग दरिद्र और कंगाल हुए।

चरक और सुश्रुत के इस देश में १८ वीं शती में भी आयुर्वेद का पर्याप्त प्रभाव शेष था। चेचक का टीका लगाने की देशी प्रथा भारत के कई हिस्सों में व्यापक थी जबकि इंग्लैंड में चेचक का टीका १७२० ई. के बाद ही चला। शल्य–चिकित्सा में भी भारतीय ग्रामीण वैद्य १८ वीं सदी में इतने उन्नत बचे रहे थे कि इंग्लैंड की स्थिति की उनसे तुलना ही नहीं हो सकती।

जिस तरह अंग्रेजों ने सुनियोजित ढंग से भारतीय वस्त्रोद्योग एवं कारीगरी को विनष्ट किया, उसी तरह टीका लगाने एवं चिकित्सा कौशलों का भी हनन किया। १८०२ ई. के आसपास से बंगाल प्रेसीडेन्सी में भारतीय तरीके से चेचक का टीका लगाना प्रतिबंधित कर दिया गया। इससे भयंकर महामारी फैली। भारत में परम्परा से इस रोग के निवारक उपाय भी अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक थे। पर साथ ही टीके की भी तकनीक विकसित थी। किन्तु अंग्रेजों ने उसका दमन किया और स्वयं की विकसित हो रही तकनीक के पक्ष में हवा बनाने के लिए उस काम को रोक दिया। अपनी टीका–तकनीक भी सबको सुलभ नहीं करा पाए। फलतः उन्नीसवीं शती और बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में भारत में चेचक महामारी भयंकर रूप से बार–बार फैली।

शल्य चिकित्सा में निपुणता भी भारतीय ग्रामीण वैद्यों में १८ वीं शती तक शेष थी। अंग्रेजों ने उनकी विधि को अवैज्ञानिक मानकर भारत में तो उसे दबाया, लेकिन ब्रिटेन में इसी भारतीय विधि के आधार पर यूरोपियन माने वाली शल्य चिकित्सा को विकसित किया। ऐसा १७६५ और १८१५ के बीस बरसों में किया गया। गणित एवं ज्योतिष में प्राचीन भारत की श्रेष्ठता विश्व विदित है। किन्तु १८ वीं सदी में हमारी इस मामले में क्या स्थिति थी, इस पर प्रायः अस्पष्टता है। भारतीय गणित–ज्योतिष १८ वीं शती में भी पर्याप्त विकसित थी। एडिनबर्ग

के गणित विभागाध्यक्ष प्रो. जान प्लेफेयर ने विस्तृत जाँच पड़ताल के बाद माना कि ईसा पूर्व ३१०२ सन् में आकाशीय पिंडों की स्थिति के बारे में भारतीयों का गणित ज्योतिषीय कथन हर प्रकार से सही दिखता है। पर वे यह मानने को तैयार नहीं थे कि यह भारतीयों ने ३१०२ ईसा पूर्व में स्वयं जो देखा था, उसी का विवरण परम्परा से सुरक्षित है। क्योंकि गणित में तो उतने विकसित वे हो ही कैसे सकते हैं? देश और काल की दूरस्थ गणना का सामर्थ्य भारतीयों में कैसे आ सकता है? अब, यह अलग बात है कि अठारहवीं शती में भारत में बनारस में दशाश्वमेध घाट के पास मानमंदिर वेधशाला विद्यमान थी, जो कि १६ वीं शती ई. में बनी बताई जाती है। इसी १६ वीं शती में ब्रिटेन में गणित ज्योतिष नितांत अविकसित दशा में था। प्लेफेयर ने कहा कि 'गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त एवं इण्टीग्रल केलकुलस के गणितीय सिद्धान्तों के ज्ञान के बिना भारतीय गणितज्ञ इतना अचूक गणित ज्योतिषीय आकलन कर ही नहीं सकते थे। हाँ, लगता है कि आकाशीय पिंडों के सीधे सूक्ष्मता से निरीक्षण की कला ब्राह्मणों को पांचेक हजार साल पहले आती थी और देखे गये विवरण ही उन्होंने दर्ज रखे एवं अब याद किये हुए हैं।' गणित और रेखागणित के ज्ञान में भारतीयों के अधिक उन्नत होने का तथ्य स्वीकार करने की मनोदशा में विदेशी विजेता नहीं थे।

इस विवरण से सामने यह आया कि गणित, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, वस्त्रोद्योग, सिंचाई, कृषि आदि के विस्तार में भारत पीछे नहीं था। उस समय के ब्रिटेन ने भारत से तब कुछ सीखा ही। अतः ब्रिटिश जीत का कारण उनकी प्रौद्योगिकी श्रेष्ठता नहीं, कुछ और था।

समाज व्यवस्था

भारतीय समाज व्यवस्था में अंग्रेजों को क्या परिवर्तन उद्दिष्ट थे, इसका ध्यान रखने पर ही हमें उनके अनेक कामों और योजनाओं का सही अभिप्राय समझ में आयेगा। पहले कहा ही जा चुका है कि अमरीका, आयरलैंड, अफ्रीका या भारत के समाजों को ब्रिटिश राज्य या अन्य यूरोपीय राज्य के औजार के रूप में विकसित किया गया। इस तथ्य को ही ध्यान में रखना महत्त्वपूर्ण है। तभी हम 'बोर्ड आफ कमिश्नर्स फार द अफेयर्स आफ इंडिया' के अध्यक्ष हेनरी डंडास द्वारा, ११ फरवरी १८०१ ई. में, मद्रास प्रेसीडेन्सी की सरकार को भेजे गये इस पत्र का आशय समझ सकते हैं –

(स्थायी बन्दोबस्त के विरुद्ध परामर्श देते हुए उन्होंने लिखा) 'कर्नाटक के क्षेत्रों एवं बंगाल में एक ठोस अन्तर है। बंगाल में लोग सरकार का आदेश मानने और अधीनता स्वीकार करने की आदतों में बहुत बढ़े–चढ़े थे। कर्नाटक

के लोग उन्हें दिए जाने वाले लाभों और कृपा के स्वागत के लिए परिपक्व नहीं हैं। वहाँ के लोग जब तक उन लाभों का महत्त्व समझने की बुद्धि से सम्पन्न न हो जाएँ, तब तक वहाँ कोई वैध आदेश–व्यवस्था लागू करना व्यर्थ होगा। दक्षिण के राजाओं में विद्रोह और अधीनता न मानने की जो प्रवृत्ति प्रबल है, उसका दमन किये बगैर वहाँ कोई वैध आदेश–व्यवस्था लागू नहीं की जा सकती। ..... .ऐसे क्षेत्रों को अधीनता की उस दशा में लाया जाना चाहिए, जिसमें वे इस सिद्धान्त के प्रति समर्पित हों और उसे स्वीकार करें। प्रत्येक लाभ के लिये उन्हें हमारे उपकारों और हमारी बुद्धिमत्ता के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। हम उन्हें काम करने देते हैं और खुशी से जीने देते हैं, इस संरक्षण के प्रति उन्हें हमारा हार्दिक कृतज्ञ होना चाहिए। ये हमारी दृष्टि में अनुल्लंघनीय सत्य है।'

हेनरी डंडास के वंशज सन् १६४७ में अंग्रेजों के भारत छोड़ने तक, ६–८ पीढ़ियों तक भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य से विविध स्तरों पर सम्बन्धित रहे। सन् १७८० से १६४७ तक इसी प्रकार कई हजार ब्रिटिश परिवार भारत में ब्रिटिश राज से ऐसे ही उच्च स्तरों पर जुड़े रहे।

यहाँ यह भी याद करना आवश्यक है कि यह मानना नितान्त असत्य है कि पहले तो भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी आई थी, ब्रिटिश राज्य नहीं, अतः १८५७ तक जो कुछ भारत में हुआ, वह कुछ ब्रिटिश व्यापारियों का काम था, ब्रिटिश राज्यकर्त्ता वर्ग का नहीं। प्रारम्भ से ही ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी को ब्रिटिश राज्य द्वारा संप्रभुता, विजय एवं राज के अधिकार प्रदान कर दिए गए थे। सन् १४८० के लगभग इंग्लैंड के राजा हेनरी सप्तम ने जान कैबट और उसके बेटों को लाइसेंस मंजूर किया कि 'वे अपने द्वारा ढूँढ़ी गई किसी भी नई जमीन, कस्बा, शहर, द्वीप या देश में कब्जा कर सकते हैं तथा वहाँ ब्रिटेन के राजा का ध्वज स्थापित कर सकते हैं। फिर वह भूमि पूर्व में हो या पश्चिम में या उत्तरी समुद्र में। वह विश्व के किसी भी भाग में हो, किन्तु यह ईसाईयों को अब तक अज्ञात ऐसा क्षेत्र हो, यानी विधर्मियों या पतितों द्वारा आबाद क्षेत्र हो।' राजा ने स्वीकृति प्रदान की कि वे लोग ऐसे सभी स्थानों को 'जीत सकते, उस पर कब्जा कर सकते और उसे अपने आधिपत्य मे बनाये रख सकते हैं।' बस, शर्त एक ही है कि 'वे लोग इसके बदले में अपने उद्यम से प्राप्त कुल पूँजी का पंचमांश ब्रिटेन के राजा को देंगे।'

ऐसी ही कम्पनियाँ यूरोप के अनेक राज्यों ने स्वीकृत की थीं। यूरोपीय विस्तारवाद के तरीके को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि ऐसी समस्त कम्पनियाँ मुख्यतः विविध यूरोपीय राज्यों का औजार थीं। भले ही किसी कम्पनी का राजतंत्र से कुछ झगड़ा हो, परन्तु उसे राज्य का सैनिक एवं राजनैतिक संरक्षण सदा प्राप्त रहता था। और जब कोई कम्पनी, विशेषतः ब्रिटिश कम्पनी

सचमुच किसी क्षेत्र को जीतना और राज करना शुरु कर देती थी, तो व्यवहारतः वास्तविक नियंत्रण उस विजित क्षेत्र पर ब्रिटिश राज्य ही करने लगता था। भले ही, औपचारिक तौर पर शासन उस विशेष कम्पनी का ही जारी रहे, जैसे कि कुछ मामलों में भारत में १८५८ ई. तक था। परन्तु, निर्णय लेने वाली शक्ति तथा राजनैतिक एवं सैन्य–नियंत्रण करने वाली शक्ति ब्रिटिश राज्य ही था। सभी विषयों से सम्बद्ध विस्तृत निर्देशों का परीक्षण, संशोधन एवं स्वीकरण राज्य द्वारा ही किया जाता था। भारत के सन्दर्भ में तो १७८४ ई. से आगे वैधानिक रुप में भी ऐसा था ही, १७५0 ई. से भी ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा कोई भी महत्त्वपूर्ण कदम ब्रिटिश राज्य के निर्देश या स्वीकृति के बिना नहीं उठाया गया। उदाहरणार्थ, मराठा नौसेनापति आंग्रे पर १७५0 ई. के दशक में ब्रिटिश आक्रमण, ब्रिटिश राज्य की नीति एवं निर्देश के अधीन किया गया था और इस पहल का ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी से नाम मात्र का ही सम्बन्ध था। वैसे भी, कम्पनी को आरम्भ से ही ब्रितानी नौसेना की पूरी सहायता प्रदान की गई तथा बाद में स्थल सेना की भी।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश राज्य एवं समाज का अपने राज्य–विस्तार के सन्दर्भ में क्या स्वरूप था और क्या नीति थी। दूसरी ओर भारत में राज्य को समाज की ही तरह सदा विविध मर्यादाओं में रहना होता था। किसी पर अकारण आक्रमण का या किसी को पूर्णतः अधीन बनाकर अपने अनुरूप रूपान्तरित करने का कोई भारतीय राज्य विचार तक नहीं कर सकता था। अपने कार्यों का स्पष्टीकरण समाज के समक्ष उसे देना होता था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत में जो कर रही थी, वह ब्रिटिश अभिजात वर्ग के आदर्शों एवं निर्देशों के अनुरूप ही था। एडिनबर्ग के प्रोफेसर एडम फर्गूसन ने सन् १७८३ ई. में हेनरी डंडास को लिखा था कि कम्पनी चरित्र में (ब्रिटिश अभिजनों से) घटिया है। पर इसी कारण उसमें ऐसे लोगों को भर्ती किया जा सकता है, जो ऊँचे और भव्य कामों के योग्य नहीं हैं। सन् १७७३ में फर्गुसन ने अपने मित्र व शिष्य जान मैकफरसन को, जो बंगाल में काउंसिल के सदस्य व वारेन हेस्टिंग्ज के बाद कुछ समय बंगाल के गर्वनर भी रहे थे, लिखा था – 'मुझे बहुत दुःख होगा यदि कम्पनी के नौकरों को भारत की धरती पर धन बटोरने से रोका गया। आखिरकार भारतीय सम्पत्ति को इंग्लैंड खींच कर लाने का सबसे आसान तरीका यही तो है।'

यहाँ मैं उन बातों को अधिक विस्तार से नहीं कह रहा हूँ कि ब्रिटिश भारतीय फौज के अधिकांश अंग्रेज अफसर किस प्रकार घूस लेते थे, यहाँ की उनकी सैनिक व नागरिक सेवाओं में क्या–क्या प्रलोभन थे और यहाँ सिविल सर्विस में आये ब्रिटिश अभिजनों से कुछ वर्षों में कितने रुपये बचाकर इंग्लैंड ले

जाये जाने की आशा की जाती थी ताकि वहाँ सभ्य जीवन जी सकें। यहाँ तक कि मैकाले या विलियम जोंस जैसे राजनैतिक सांस्कृतिक व्यक्तित्व वाले लोगों के भारत आने के पीछे मुख्य अभिप्राय यही था कि यहाँ कुछ वर्ष रहकर वे इतनी बचत कर लेंगे कि ब्रिटेन वापिस जाकर वहाँ के समाज में अपनी हैसियत के अनुरूप आराम से आजीवन रह सकें। अधिकांश गवर्नर जनरलों एवं बाद में वायसरायों ने इंग्लैंड से भारत आते समय यह हिसाब लगाया था कि अपने कार्यकाल में वे कितनी बचत कर सकेंगे।

अपने मित्र अर्लमोर्ले को १८२४–२५ में एमहर्स्ट ने बताया था कि मैं सम्भवतः प्रतिवर्ष पच्चीस हजार पौंड के वेतन का आधा बचा पाऊँ। एमहर्स्ट गवर्नर जनरल रहे थे। एलफिंस्टोन बम्बई में गर्वनर थे। उनकी महत्त्वाकांक्षा थी कि जब वे ब्रिटेन लौटें तो ३ लाख रुपये बचाकर ले जाएँ ताकि नया–पुराना साहित्य पढ़ते हुए आराम से रह सकें। उनके मित्र स्ट्रेची ने सुझाव दिया कि ६० हजार पौंड बचत करने तक गवर्नर बने रहो।

ब्रिटिश फौज में, जिसमें भारत में आये ब्रिटिश फौजी अफसर भी सम्मिलित हैं, अफसर पद की भर्ती कानूनी तौर पर सन् १८६० ई. तक खरीदी जाती थी। क्योंकि इन पदों पर अच्छी आमदनी के साथ ही पद के अनुरूप उस लूट में हिस्सा मिलता था, जो लूट लड़ाई के समय ब्रिटिश सेना पराजित राज्य में करती थी।

इस प्रकार धन कमाने को न केवल वैधता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त थी, अपितु उसे ब्रिटेन की सेवा का एक माध्यम भी मान लिया गया था। विदेशी लूट, ब्रिटिश देश सेवा की एक बहुमान्य अवधारणा रही है। राबर्ट क्लाइव और उसके साथियों को जो बड़े–बड़े उपहार आदि दिए गए और डाली का जो व्यापक प्रचलन ब्रिटिश राज में बढ़ाया गया, वह इस लूट के अतिरिक्त है। अंग्रेजों द्वारा भारत में मुनाफा कमाने का एक यह तरीका था कि अपने राज्य में किसी इलाके में नमक बनाने का एकाधिकार प्राप्त कर लो, या बुनकरों पर पूर्ण नियंत्रण के अधिकार प्राप्त कर लो, अथवा किसी व्यापार में जुटो और सरकार से कर वगैरह में रियायत या माफी प्राप्त कर लो। इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तरीका यह था कि पहले किसी देसी रियासत के राजा को ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करने को तैयार किया जाय। फिर उसे अपने राज्य में तैनात ब्रिटिश फौज का खर्च वहन करने को मजबूर किया जाए। इस खर्च को पूरा करने के लिए उस राजा को ब्रिटिश अफसर, सौदागर, कौंसिल सदस्य और गवर्नर तक ३६ से ६० प्रतिशत तक वार्षिक ब्याज पर ऋण दें। इसके एवज में विस्तृत क्षेत्र या पूरा क्षेत्र ब्रिटिश अफसरों के पास रेहन रख लिया जाए। कई बार स्वयं ऋणदाता अपने नाम से ये इलाके रेहन रखता था, कभी अपने एजेण्ट के नाम से या किसी डमी के नाम

से, इस प्रकार उस क्षेत्र पर अधिकार भी हो जाता था और धन भी वसूल किया जाता रहता था। अंततः यह सारा धन ब्रिटेन जाता था। १७५० से १८३० तक यह सब व्यापक रूप में चलता रहा।

किन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं कि मात्र निजी लोभ या संग्रह–लालसा ही ऐसे व्यवहारों का मूल थी। जान लॉक, एडम स्मिथ जैसे ब्रिटिश विचारकों ने इस व्यवहार के पक्ष में वैचारिक आधार निर्धारित–निरूपित किये। इसमें अधिक कठिनाई इसलिए भी नहीं आई क्योंकि ये व्यवहार ब्रिटेन में ऐसे क्षेत्रों में प्रचलित प्रतिमानों के अनुरूप ही थे। ब्रिटिश समाज अपने ऊर्जस्वी और उद्यमी बेटों से यही उपेक्षा करता था कि वे विश्व को ब्रिटिश प्रयोजनों का एक नियंत्रित अधीनस्थ औजार बनाएं। जैसी कि चर्चा की जा चुकी है, यही ग्रीक–सभ्यता–काल से परम्परागत यूरोपीय दृष्टि है।

इसी प्रकार भारत में अंग्रेज अफसर जहाँ ब्रिटिश समाज द्वारा उन्हें सौंपे गए दायित्वों को चुस्ती से निभा रहे थे, वहीं वे उन व्यवहार–प्रतिमानों का भी निष्ठा एवं दृढ़तापूर्वक निर्वाह कर रहे थे, जो कि स्वयं ब्रिटिश समाज में बनाये गये और प्रचलित थे। अपने समाज में वैसे व्यवहारों के अभ्यास के कारण उन्हें विदेश में भी वही व्यवहार करने में किसी आन्तरिक कठिनाई का कभी अनुभव नहीं हुआ।

जहाँ तक भारतीय समाज की तत्कालीन व्यवस्था का प्रश्न है, कुछ तथ्यों का स्मरण उपयोगी होगा। सबसे पहले तत्कालीन भारत के राजनीति तंत्र (पालिटी) के शीर्षस्थ लोगों का आचरण स्मरणीय है। मुगल दरबारों की शाही शानो–शौकत की विपुल गाथा गायी गई है। यूरोपीय यात्रियों ने ऐसे बहुत से किस्से लिखे हैं। किन्तु ब्रिटिश अभिलेख देखने पर अलग ही चित्र उभरता है। उससे भारत के शीर्षस्थ लोगों के जीवन में भी विशेषकर हिन्दू राज्यों में, सादगी और संयम की ही झलक मिलती है। मुस्लिम शासित हैदराबाद तक में, १७८० ई. में, एक निरीक्षण–निपुण ब्रिटिश अधिकारी ने अनुभव किया कि वहाँ के अभिजनों और उनके सेवकों के बीच देख कर भेद कर पाना बहुत कठिन है। ध्यान से देखने पर ही यह अन्तर कर पाना सम्भव था और वह अन्तर यह था कि अभिजनों के वस्त्र, सेवकों की तुलना में अधिक साफ होते थे। उसे इस स्थिति पर गहरा क्षोभ हुआ कि ये लोग ऐसा अन्तर बनाये रखना तक ठीक से नहीं जानते।

एक सशक्त प्रारम्भिक ब्रिटिश गवर्नर जनरल का कहना था कि हिन्दू राजा अपने ऊपर निजी खर्च बहुत कम करते हैं। इसी बात की सन् १८०० से पहले और उसके १८–२० वर्षों बाद तक अनेक लोगों ने पुष्टि की या प्रतिध्वनि की। उस गवर्नर जनरल के अनुसार इन राजाओं में दो बड़ी कमियाँ हैं, जिनकी

क्षति उन्हें उठानी पड़ती है। एक तो वे ब्राह्मणों को बहुत दान देते हैं, दूसरे मन्दिरों को।

सम्भवतः यहाँ ब्राह्मण एवं मन्दिर शब्दों का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में है। ब्राह्मणों से अभिप्राय उन सभी लोगों से है, जिन्हें किसी प्रकार के विद्याध्ययन एवं विद्याभ्यास (साहित्य, कला, संगीत, शिल्प, वैद्यक, ज्योतिष आदि) हेतु अनुदान दिया जाता है। इसी प्रकार मन्दिरों से आशय ऐसी समस्त संस्थाओं से है, जो न केवल धार्मिक उपासना आदि की व्यवस्था करती हैं, अपितु जो विद्या, संस्कृति, उत्सव एवं सामाजिक विनोद, विश्राम आदि की व्यवस्थाएँ संचालित करती हैं। उदाहरणार्थ–भारत में चेचक का स्वदेशी टीका लगाने वालों के बारे में ब्रिटिश अभिलेखों में कहा गया है कि ब्राह्मण लोग ये टीके लगाते थे। स्पष्ट है कि जानकार यूरोपीयों द्वारा उस अवधि में उन सभी लोगों को ब्राह्मण मान लिया जाता था, जो बौद्धिक, चिकित्सा सम्बन्धी या अन्य ऐसी ही क्रियाशीलताओं में संलग्न होते थे।

केदारनाथ से तंजावुर एवं रामेश्वरम् तक देश भर में धार्मिक स्थानों में तीर्थयात्रियों के ठहरने आदि के लिए छत्रम् होते थे। सन् १८००–१८०१ ई. के तंजावुर राजा और अंग्रेज सरकार के पत्र–व्यवहार से ज्ञात होता है कि तंजावुर से रामेश्वरम् तक की अनेक बन्दरगाहों का राजस्व भी तंजावुर से रामेश्वरम् तक बने छत्रमों के रखरखाव पर सीधे खर्च कर दिया जाता था। इन छत्रमों की कार्यप्रणाली और देश के चारों कोनों से आकर इनमें ठहरने वाले तीर्थयात्रियों को दी जाने वाली सुविधाओं के बारे में तंजावुर के राजा ने लिखा था –

'समुद्र के किनारे–किनारे बने इन छत्रमों में प्रतिवर्ष रामेश्वरम् जाने वाले ४० हजार तीर्थ–यात्रियों को ठहराने का पूरा प्रबन्ध है। हर छत्रम् के साथ मन्दिर और पाठशालाएं हैं। यहाँ हर जाति के यात्री को भोजन दिया जाता है। जो खुद पकाना चाहें, उन्हें उचित सामग्री दी जाती है। भोजना आधी रात तक बँटता है। फिर एक घंटी बजा दी जाती है। भोजन से कोई छूट गया हो तो वह भी आ जाए। जो तीर्थ यात्री किसी कारण तीर्थ यात्रा पर आगे बढ़ न पाएँ, उन्हें यहाँ रुकने की सुविधा भी दी जाती है। हर छत्रम् में चार वेदों के ज्ञाता, एक शिक्षक व एक चिकित्सक रहते हैं। अनाथ बच्चों को शिक्षक सम्भालता है। उन्हें तीन समय भोजन मिलता है और कपड़े भी। वे जो विद्या या उद्योग सीखना चाहें वह उन्हें सिखाने की व्यवस्था की जाती है। छत्रम् में यदि किसी की असमय मृत्यु हो जाए तो उसका अंतिम संस्कार भी किया जाता है। बच्चों को दूध, गर्भवती स्त्री की देखभाल, प्रसव होने पर तीन महीने तक उसकी देखभाल की पूरी व्यवस्था होती है।

'छत्रमों के साथ संलग्न भूमि जिसका परम्परागत भूमि कर उन्हें ही मिलता था, अच्छी नहीं है। फसल अच्छी नहीं हो पाती। किन्तु इन छत्रमों का मैं बहुत आदर करता हूँ। इसलिए जो घाटा होता है, उसे राज्य की ओर से अन्न व धन भेजकर पूरा किया जाता है।' ऐसे ही कागजात केदारनाथ, बद्रीनाथ से लेकर पंजाब बंगाल, राजस्थान और दक्षिण के भी सभी भागों के बारे में मिलते हैं।

केदारनाथ के छत्रमों के बारे में यह भी व्यवस्था थी कि कुछ वर्षों तक उनके लिए प्रतिवर्ष निर्धारित धनराशि पूरी न खर्च होने के कारण जो कुछ धनराशि बच जाए, कुम्भ पर्व के अवसर पर वह बची सम्पूर्ण धनराशि व्यय कर दी जाए और फिर नये सिरे से उनके कोष प्रारम्भ किये जाएँ। अनेक श्रोता मित्रों को यहाँ शायद सम्राट हर्षवर्धन की ऐसी ही प्रवृत्ति का प्रसंग याद आए।

१८ वीं शती ई. के ब्रिटिश अभिलेखों से यह भलीभाँति अनुमान हो जाता है कि भारतीय समाज, विशेषतः यहाँ के ग्राम समाज कैसे चलते थे। १७७० ई. के आसपास का चिंगलपेट जिले के गाँवों का विवरण मिलता है, जो इसकी पर्याप्त जानकारी दे देता है। १८०० ई. के पहले के बंगाल से सम्बन्धित तथ्य भी इसी से मिलते–जुलते हैं।

चिंगलपेट जिले से सम्बन्धित विवरण १७६०–१७७० ई. के आसपास २,००० गाँवों के एक सर्वे से एकत्र किये गये थे। इसमें प्रत्येक गाँव की कुल भूमि, विविध प्रयोजनों के लिए इस भूमि का उपयोग, हर गाँव की कुल कृषि–भूमि (सिंचित और असिंचित) तथा मान्यम के विवरण हैं। मान्यम उस भूमि को कहते हैं, जिसका भूमि कर, विविध ग्राम संस्थाओं एवं गतिविधियों के लिए सौंपा जाता है। ऐसी भूमि का कर, विधि विहित राज्याधिकारी व व्यवस्था को देय होता था, फिर वह ग्राम स्तरीय अधिकारी हो, क्षेत्रीय हो या राष्ट्रीय स्तर का हो।

ऐसे भूमि कर के प्रदान से किसी सम्बद्ध व्यक्ति का उस भूमि पर स्वामित्व यथावत् रहता था। बस, सम्बन्धित भूमि स्वामी या किसान को उस भूमि का कर उस व्यक्ति या संस्था को देना होता था, जिसके लिए मान्यम प्रदान किया गया हो। स्थानीय व क्षेत्रीय राज्य के स्थान पर यह कर मान्यम के प्राप्तकर्ता को दिया जाता था।

इस सर्वे का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग वह है, जो १८०० ई. से पहले दक्षिणी भारत के अभिलेखों में उल्लिखित गाँवों से सम्बन्धित है। गाँवों में से प्रत्येक की कुल कृषि उपज में से गाँव की विविध संस्थाओं तथा व्यवस्थाओं के लिए एक निश्चित अंश निकाला जाता था और अन्य सम्बद्ध ग्रामों, क्षेत्रों से सम्बन्धित अन्तर्ग्रामीण संस्थाओं और पदों के लिए निर्धारित अंश निकाला जाता था। इस व्यवस्था को सामान्यतः 'स्वतन्त्रम्' कहा जाता था। स्वतन्त्रम् का विवरण इन

ऑकड़ों में है। स्पष्ट है कि उत्पादन का अंश विभिन्न कार्यों एवं विभिन्न संस्थाओं को पुरातन काल से चली आ रही प्रथाओं एवं व्यवहारों के अनुरूप ही निर्धारित किया जाता रहा है। स्पष्टतः यह मात्र आर्थिक प्रबन्ध नहीं था। अपितु ग्राम्य या क्षेत्रीय राजनीतितंत्र (पोलिटी) में ये अंश प्राप्त करने वाले विविध घटकों की भूमिका और महत्त्व का निर्धारण भी इसी प्रक्रिया में होता रहा होगा, ऐसा दिखता है।

निम्नांकित सारणी में आठ गाँवों के ऐसे अंश निर्धारणों का विवरण है। ये सभी चिंगलपेट जिले के हैं। चार पोन्नेरी क्षेत्र के और चार करांगुलि क्षेत्र के। हमने विवरण हेतु ये गाँव लेते समय एक ही बात भर ध्यान में रखी है कि इन गाँवों का क्षेत्र विस्तार अन्य पास के गाँवों से अधिक है। (सारणीक्रमांक ५ देखें)

जैसा कि दिखता है, हर गाँव से कुल कृषि–उपज का लगभग २५ से ४० प्रतिशत (एक चौथाई से दो पंचमांश) तक अंश स्वतन्त्रम् के रूप में निर्धारित था। यहाँ प्रसंगवश यह भी स्मरणीय है कि एक प्रमुख ब्रिटिश सेनापति और बाद में बम्बई प्रेसीडेन्सी के १८२७–३० ई. में गवर्नर रहे जान माल्कम का ऐसा अनुमान रहा कि मालवा के गाँवों में भी ऐसे प्रयोजनों (ग्राम खर्च) के लिए कुल कृषि उत्पादन का एक चौथाई के लगभग अंश निकाला जाता था।

चिंगलपेट के दूसरे कई गाँवों में ऊपर चर्चित कार्यों के अतिरिक्त अन्य कई उत्सवों, या कार्यों के लिए भी भिन्न–भिन्न तौर पर अंश निकाला जाता था। जैसे कि वर्नाकुलर स्कूल शिक्षक, मठम्, सिद्धम्, उद्घोषक, बनिया, फकीर, तेल बेचने वाले, वेट्टियान, मस्जिद इत्यादि के लिए। दूसरी ओर कई गाँवों में ऊपर सारणी में चर्चित कार्यों में से कुछ शायद नहीं होते हों और इससे उनका अंश न निकाला जाता हो। इस हिसाब के अनुसार चिंगलपेट जिले की कुल जोती हुई भूमि का लगभग छठा हिस्सा मान्यम भूमि था। बंगाल के कई जिलों में (१७७० ई. के करीब) तथा मद्रास प्रेसीडेन्सी के कुड्प्पा, बेल्लारी, अनंतपुर आदि जिलों में (जहाँ थामस मुनरो ने १८००–१८०७ के मध्य ब्रिटिश सत्ता व अधिकार को सुदृढ़ किया) तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में ऐतिहासिक एवं पारम्परिक रूप में, मान्यम के नाम से वर्गीकृत भूमि उस क्षेत्र की कुल भूमि की आधी तक होती रही है। सम्भवतः भारत के अनेक हिस्सों में पूरे के पूरे जिले भी मान्यम निध ारित कर दिये जाते थे। प्रायः सांस्कृतिक एवं धार्मिक संस्थाओं की सहायतार्थ ये मान्यम निश्चित किये जाते थे। किन्तु कुछेक मान्यम स्थानीय एवं क्षेत्रीय सैन्य व्यवस्था के लिए भी निश्चित होते थे। १८३० के आसपास की एक सरकारी ब्रिटिश टिप्पणी में कहा गया है कि बंगाल प्रेसीडेन्सी जिसमें बंगाल, बिहार, व अन्य क्षेत्र आते थे, के जिलों में, हर जिले में ऐसे हजारों व्यक्ति एवं संस्थाएं थीं, जिनके लिए परम्परा से मान्यम की व्यवस्था थी। १७७० ई. के दशक में बंगाल

के एक जिले में मान्यम के दावेदारों की संख्या सत्तर हजार कही गयी है।

ऊपर के ऑकड़ों–विवरणों से स्पष्ट होगा कि विविध व्यक्तियों एवं संस्थाओं को दिये जाने वाले अंश अलग–अलग स्थानों व प्रदेशों में भिन्न–भिन्न हैं। किन्तु मोटे तौर पर जहाँ भी सिंचाई थी, वहाँ कुल कृषि–उपज का चार प्रतिशत सिंचाई–व्यवस्था के रख–रखाव के लिए निर्धारित होता था। आप सब को यह जानकर शायद आश्चर्य होगा कि देवी मन्दिर, धर्मराज मन्दिर एवं ग्राम देवता मन्दिर, जिनमें साधारणतया ब्राह्मण या अन्य द्विज नहीं जाते थे, तथा जिनके पुजारी ब्राह्मण नहीं होते थे, उनको जो कुछ स्वतंत्रम् मिलते थे, वे शिव, विष्णु एवं गणेश मन्दिर (जिनकी व्यवस्था मुख्यतः द्विज नागरिक करते थे) को मिलने वाले स्वतंत्रम् से अधिक थे। प्रस्तुत आठ गाँवों में ग्राम देवता मन्दिर का उदाहरण नहीं है।

यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि १८१८ ई. के एक ब्रिटिश सर्वे के अनुसार दक्षिणी अर्काट जिले में बड़े, मझोले और छोटे मिलाकर कुल सात हजार से अधिक मन्दिर थे तथा कई सौ मठम् एवं छत्रम् थे। मद्रास के जिन अन्य जिलों में यह सर्वेक्षण किया गया, वहाँ किसी में ३ हजार मन्दिर थे, किसी में ४ हजार। एक मोटे अनुमान से, १८०० में मद्रास प्रेसीडेन्सी में लगभग एक लाख मन्दिर रहे होंगे। उसी अवधि में पूरे देश में ऐसे स्थानों व संस्थाओं की संख्या ५ लाख के लगभग रही होगी। इनमें से लगभग ५ प्रतिशत संस्थाएं इस्लामी उपासना एवं अध्ययन के स्थल रही होंगी, तथा लगभग एक हजार ईसाई उपासना संस्थाएं रही होंगी, जिनमें से अधिकांश दक्षिण भारत के समुद्रतटीय क्षेत्रों में थीं।

कर्णम् या कोनिकोप्ली वस्तुतः कोई व्यक्ति नहीं, अपितु गाँव के रजिस्ट्रार का कार्यालय होता था, जो एक ग्रामीण सचिवालय जैसा समझना चाहिए। कर्णम् के कार्य के लिए सामान्यतः कुल कृषि उपज का तीन से चार प्रतिशत अंश दिया जाता था। तलियार यानी ग्राम–पुलिस (जिसमें अनेक व्यक्ति होते रहे होंगे) के लिए सामान्यतः ३ प्रतिशत अंश निश्चित होता था। यहाँ प्रसंगवश यह जानना भी उपयोगी होगा कि तलियार, अन्न मापने वाला, भूमि सीमा–विवाद निपटाने वाला तथा कुछ अन्य ग्रामीण पद सामान्यतः अन्त्यज (परिहा) तथा अन्य वैसी ही जातियों के लोगों को मिलता था। महाराष्ट्र में ग्राम पुलिस (रक्षक दल) में महार लोग होते थे। सैन्य व्यवस्था का प्रमुख पालेगर कहलाता था। पालेगर सम्भवतः अपने क्षेत्र का आज के फौजी कर्नल या इन्सपेक्टर जनरल पुलिस जैसा पद होता था। यदि कहीं चोरी हो जाती थी, और पुलिस या पालेगर चोरी गई सम्पत्ति ढूँढ़ निकालने में विफल रहते थे, तो उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने पद के लिए निर्धारित आय में से चोरी गई सम्पत्ति की

क्षतिपूर्ति पीड़ित पक्ष को करें।

इन तथा ऐसे अन्य आँकड़ों, तथ्यों के अधिक गहरे विश्लेषण की आवश्यकता पर इनमें से यह तो अर्थ स्पष्ट है कि इस समाज के प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित प्रतिष्ठा थी, तथा उसकी सामाजिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति की समुचित व्यवस्था की जाती थी। भारत के सांस्कृतिक प्रतिमानों को देखते हुए तथा भारतीय भूमि की उर्वरता के कारण इन प्रतिमानों का निर्वाह सुगम होने के कारण भी प्रत्येक व्यक्ति का यह नैसर्गिक अधिकार मान्य प्रतीत होता है कि उसे भोजन और आश्रय–स्थान प्राप्त हो। मध्यकालीन भारत के एक इतिहासकार के अनुसार दिल्ली के शासकों के जिस एकमात्र व्यय का विवरण प्राप्त है, वह उन लोगों के मुफ्त भोजन कराने का व्यय है, जिनके लिए ऐसे भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। सम्भवतः दिल्ली के मुसलमान राज्य में भी यह राज्य का सबसे बड़ा व्यय मद रहा होगा। राज्य का यह व्यवहार भारतीय समाज के पुरातन प्रतिमानों की परम्परा के आधार व मान्यताओं के अनुसार ही रहा होगा।

जैसा कि ऊपर की सारणी से प्रकट है, ये अंश–निर्धारण मात्र आन्तरिक ग्राम–व्यवस्था के लिए नहीं थे। यद्यपि ग्राम–व्यवस्था का यह आन्तरिक तंत्र भी वैविध्यपूर्ण एवं संश्लिष्ट था तथा उसी के अनुरूप अंश निर्धारित थे। पर साथ ही, अन्तरग्रामीण धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, लेखा सम्बन्धी एवं सैन्य प्रयोजनों की व्यवस्था के लिए भी ये अंश निर्धारित थे। यह मानना चाहिए कि अन्य तरह के उत्पादनों एवं आय स्रोतों पर आधारित, किन्तु संरचना में कुछ ऐसी ही व्यवस्थाएँ कस्बों–शहरों के लिए भी रही होंगी। इस प्रकार ग्राम–समाज या कोई स्थानीय समाज जहाँ अपने आन्तरिक प्रयोजनों एवं व्यवस्थाओं का प्रबन्ध करता था, और इस रूप में एक स्वायत्त गणतंत्र या निगम का प्रतीक था, वहीं वह अन्य गाँवों या स्थानों से भी सम्बद्ध होता था। वस्तुतः वह अन्तःक्षेत्रीय व्यवस्थाएँ एक बड़े क्षेत्र से भी सम्बन्धित रहती थीं, जिसे हम राष्ट्रीय क्षेत्र कह सकते हैं। इस प्रकार इन आँकड़ों एवं विवरणों से एक ऐसे राजनीति–तंत्र (पालिटी) का रूप उभरता है, जो महात्मा गाँधी द्वारा व्याख्यायित उस 'सागरीय वृत्त' वाले बोध से मिलता–जुलता दीखता है, जिसमें गाँधीजी के विचार से सबसे भीतरी वृत्त सर्वाधिक आन्तरिक स्वायत्तता प्राप्त किये रहता है तथा बाहरी वृत्तों को वैसे वित्तीय, नैतिक तथा अन्य सहायता व समर्थन प्रदान करता रहता है, जो कि उन अन्य बचे हुए कामों की पूर्ति हेतु इन बाहरी वृत्तों के लिए आवश्यक हैं, जो काम स्थानीय स्तर पर सम्पन्न नहीं किये जा सकते।

इस प्रकार स्थानीय सामाजिक तंत्र के सम्यक् संचालन एवं देखरेख के लिए तथा उसकी छोटी–बड़ी सभी संस्थाओं एवं कार्यों के लिए जहाँ उत्पादन

का अच्छा–खासा अंश निर्धारित होता था, वहीं ऊपर की क्षेत्रीय व राष्ट्रीय संस्थाओं का हिस्सा कम होता था। प्रारम्भिक ब्रिटिश अधिकारियों के अनुसार मालाबार में १७४० ई. तक भूमि पर कर बिलकुल नहीं था। १५ वीं शती ई. तक कन्नड़ प्रान्त में ऐसा कोई कर नहीं था। रामनाद (जिसमें रामेश्वरम् है) जैसे क्षेत्रों में १७६० के दशक में भी नाममात्र को भूमिकर था। त्रावणकोर में १६ वीं शती के आरम्भ में भी भूमिकर, कुल उत्पादन का ५ से १० प्रतिशत से अधिक नहीं था। ऊपर की संस्थाओं व्यवस्थाओं के लिए भूमि पर लगने वाला कोई भी कर परम्परागत बहुत कम होता था, यह १८०० ई. तक मान्यम की भूमि पर खेती करने वालों द्वारा मान्यम पाने वालों को दिये जाने वाले कर या कृषि–उपज के अंश की मात्रा से भी स्पष्ट होता है। मुसलमानों के समय जहाँ तहाँ कर शायद बढ़ा, लेकिन इतना नहीं जितना अंग्रेजों के आने के बाद। थामस मुनरो के अनुसार अंग्रेजों द्वारा थोपी गयी राजस्व दरों से यह परम्परागत अंश या कर एक चौथाई से अधिक नहीं होता था। मुनरो के अनुसार कई बार तो किसान अपनी इच्छानुसार जितना चाहते थे उतना ही मान्यम प्राप्तकर्त्ता को दे देते थे। बंगाल के कलेक्टरों ने १७७० के दशक में ऐसी ही स्थिति होने की सूचना दी है और कहा है कि ब्रिटिश भू–राजस्व बहुत भारी पड़ता है (परम्परागत दर से लगभग चार गुना) और जहाँ मान्यम भूमि कुल जोती गई भूमि का आधे के लगभग है ऐसे जिलों में बड़ी संख्या में किसान वह भूमि छोड़ देते थे, जिसका राजस्व ब्रिटिश अधिकारियों को देना होता था। उसके स्थान पर वे मान्यम भूमि पर जाकर खेती करने लगते थे। यह शायद इसलिये भी सम्भव हुआ कि १७६६–७० के बड़े अकाल के बाद जिससे बंगाल की एक तिहाई जनसंख्या घट गयी, काफी सारी खेती की जमीन बगैर जोत के पड़ी थी। जिस भूमि का राजस्व अंग्रेजों को देना पड़े, उसे त्यागकर किसान मान्यम भूमि में खेती करने लगे, यह प्रवृत्ति १८२० में भी मद्रास प्रेसीडेन्सी में विद्यमान थी। तब गवर्नर के रूप में थामस मुनरो ने धमकी दी थी कि मान्यम के ऐसे स्वामियों का मान्यम रद्द कर दिया जायेगा, जो अपनी भूमि पर ब्रिटिश राजस्व वाली भूमि छोड़कर खेती करने आने वाले किसानों को खेती करने देंगे।

ऊपर चर्चित आँकड़ों के सन्दर्भ में यह जानने योग्य है कि मुगल शासकों (१५५६–१७०७ ई) के खजाने में धन की आमद उनके राज्य के माने जाने वाले कुल राजस्व के २० प्रतिशत से अधिक की कभी नहीं हुई। जहाँगीर के शासन में तो यह आमद कुल राजस्व का ५ प्रतिशत से भी अधिक नहीं होती थी। यह भी उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक रूप से चीन में भूमि कर कुल कृषि उपज का लगभग सोलहवाँ हिस्सा रहा बताया जाता है। ऐसा मानना स्वाभाविक ही होगा कि पूर्वी एवं दक्षिणी–पूर्वी एशिया के अन्य स्थानों में भी यही राजस्व कर रहा

होगा। भारत में मनु संहिता में अधिकतम कर, उपज का छठा अंश लिये जा सकने की व्यवस्था है, किन्तु वहाँ भी सामान्यतः कुल कृषि उपज का बारहवाँ अंश लिये जाने का ही आग्रह है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सन् १७८० से आगे अंग्रेजों ने अनेक कारणों से मनु संहिता को विशेष महत्त्व दिया। १८१५ ई. के लगभग, लंदन में विविध भारतीय ग्रंथों एवं पाठों के अनुवाद और प्रकाशन के कार्य को हतोत्साह किया जाने लगा। उस समय जिस एकमात्र पुस्तक के पुनर्मुद्रण को प्रोत्साहन दिया गया, वह कुल्लूक भट्ट की टीका सहित मनुस्मृति का प्रकाशित संस्करण था।

दूसरी ओर यह भी सत्य है कि पश्चिमी यूरोप में १८ वीं शती ई. में वहाँ के 'लैंड लार्ड' भूमि से जो कर लगान वसूलते थे, वह कुल कृषि उपज का ५० से ८० प्रतिशत था। ऐसा लगता है कि भारतीय इतिहासकारों और बौद्धिकों ने अपने पश्चिमी स्वामियों से जो धारणाएँ बिना गवेषणा के अंगीकार कर ली हैं, उनमें से एक यह है कि भारत में स्थिति वही थी, जो १८ वीं शती ई. के पश्चिमी यूरोप में थी।

अपनी स्थानीय सांस्कृतिक–धार्मिक संस्थाओं एवं प्रवृत्तियों, लेखा व्यवस्था, राजनैतिक एवं सैन्य व्यवस्था या रक्षा–व्यवस्था (कानूनगो, देशमुख, पालेगर आदि) इत्यादि का प्रबन्ध करने वाला गाँव या क्षेत्र सम्भवतः शीर्षस्थ तंत्र के लिए भी लगभग ५ प्रतिशत अंश देता था। लाखों गाँवों एंव इकाइयों से मिलने वाली यह ५ प्रतिशत की अल्प राशि भी कुल मिलाकर पर्याप्त से अधिक हो जाती रही होगी। यह गाँव द्वारा अपनी शिखर सत्ता को, या कि महात्मा गाँधी द्वारा निरूपित बाहरी वृत्त को, देय अंश था। शायद यह सत्य हो कि ऐसी व्यवस्था से क्षेत्रीय या राष्ट्रीय स्तर पर सैनिक दृष्टि से पर्याप्त सक्षम व्यवस्था को पर्याप्त आधार नहीं मिल पाता। लेकिन यह भी हो सकता है कि हमारी सैन्य दुर्बलता अथवा अन्य संस्थागत निर्बलताओं के कारण कुछ और ही रहे हों। भारतीय राजनीति–तंत्र (पोलिटी) की विकेन्द्रित सामाजिक एवं वित्तीय व्यवस्था शायद इसका कारण नहीं रही हो।

देश के विभिन्न भागों एवं क्षेत्रों में भूमि स्वामित्व एवं अधिकारों संबंधी भिन्न–भिन्न पद्धतियाँ रही हैं। एक ही क्षेत्र में भी कई व्यवस्थाएं आसपास चलती रही हैं। किन्तु प्रायः इन सभी व्यवस्थाओं में भूमि पर ग्राम समुदाय को सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। भूमि के क्रय–विक्रय की अनुमति एवं उसके प्रबंध संबंधी सर्वोच्च अधिकार ग्राम समाज का ही होता था।

ऐसे भी गाँव थे, जहाँ ग्राम समाज समुदायम के रूप में संगठित था। सम्भवतः समुदायम में गाँव के सब परिवार नहीं होते थे, अपितु मात्र किसान

परिवार और मान्यम पाने वाले परिवार होते थे। समुदायम के सदस्यों का गाँव की भूमि में विशिष्ट हिस्सा होता था। जिस भूमि पर वे खेती करते थे, वह भूमि आपस में समय–समय पर बदल भी ली जाती थी। तंजावुर में १८०५ ई. में इस प्रथा का विवरण मिलता है। वहाँ उस समय लगभग तीस प्रतिशत गाँव समुदायम के रूप में संगठित थे। यह परिवर्तन इस आधार पर किया जाता था कि समय समय पर सभी खेतों की उर्वरा शक्ति में कुछ परिवर्तन होते रहते हैं। जिससे समुदायम सदस्यों में आपस में विषमता की स्थिति हो जाती है। इसीलिए भूमि का नये सिरे से पुनर्वितरण आवश्यक हो जाता है।

१८०५ ई. में तंजावुर में मीरासदारों की कुल संख्या ६२,०४८ थी। मिरासदार उन्हें कहते हैं, जिनका भूमि पर स्थायी अधिकार हो। इन मीरासदारों में ४२ हजार से अधिक तथाकथित शूद्र एवं तथाकथित शूद्र से भी निचली जातियों के थे। बड़ामहल (वर्तमान सेलम जिला) में परिहा (अन्त्यज) कहे जाने वाले किसानों की संख्या १८०० ई. में कुल ६ लाख की जनसंख्या में ३२,४७४ की थी। चिंगलपेट के कलेक्टर द्वारा १७६६ ई. में तैयार सूची में मीरासदारों की संख्या ८३०० दर्ज थी। पर कलेक्टर का मत था कि वास्तविक मीरासदारों की संख्या दस गुनी है। यानी ८० हजार के लगभग। सन् १८१७ में तिरुनेलवेल्ली जिले के १०८० गाँवों के मीरासदारों की संख्या ३७,४६४ अनुमानित थी। यह कहना सम्भवतः यहाँ आवश्यक नहीं कि सम्पूर्ण भारत में वास्तविक भूमि जोतने वाले के अधिकर स्थायी एवं वंशानुगत रहते रहे हैं। १७६० ई. के बाद अंग्रेजों ने ये अधिकार समाप्त करने का क्रम चलाया। एक तो इसलिए ताकि बहुत बढ़ी हुई मात्रा में वे राजस्व वसूल कर सकें तथा दूसरे इसलिए क्योंकि स्वामित्व की ब्रिटिश अवधारणा में जोतने वालों के ऐसे किसी अधिकार का स्थान स्वयं ब्रिटेन में नहीं था।

भारतीय अर्थव्यवस्था एवं उपभोग या खपत के ढाँचे का एक अनुमान बेल्लारी जिले के १८०६ ई. के कुछ तथ्यों से भी होता है, जिसमें जिले भर के हर परिवार की औसत खपत का कुल आकलन है। पूरी जनसंख्या ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा तीन वर्गों में वर्गीकृत है और उसका खपत का ब्यौरा है। ये तीन वर्ग हैं – पहला अधिक समृद्ध लोगों का (कुल जनसंख्या २,५६,५६८), दूसरा मध्यम साधनों वाले परिवार (कुल जनसंख्या ३,७२,८८७) तथा तीसरा निम्न वर्ग (कुल जनसंख्या २,१८,६८४)। इस आकलन के अनुसार इन तीनों वर्गों में खपत का यह रूप था – खपत की पहली श्रेणी वालों से दूसरी व तीसरी श्रेणी वालों द्वारा उपभोग्य खाद्यान्न की गुणवत्ता एवं मूल्य में अन्तर था। मात्रा तीनों वर्गों में एक ही थी। वह थी प्रति व्यक्ति प्रतिदिन आधा सेर अनाज। खपत के इस विवरण में २३ अन्य वस्तुएँ भी थीं, जिनमें दाल, सुपारी, घी, तेल, सूखा व कच्चा

नारियल, दवाएं, वस्त्र, ईंधन, सब्जी आदि हैं। पान भी है। पहली श्रेणी के लोगों में पान की खपत छः व्यक्तियों के एक परिवार में प्रतिवर्ष ६,६०० पानों की है। दूसरी श्रेणी में यह संख्या ४,८०० पान प्रतिवर्ष है और तीसरी में इतने ही बड़े परिवार में प्रतिवर्ष ३,६०० पानों की खपत दर्ज है। घी और तेल की खपत का अनुपात तीनों वर्गों में लगभग ३:१:१ का है और दालों का ८:४:३ का। प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष कुल खपत प्रथम श्रेणी में १७ रु. ३ आने ४ पाई है, दूसरी श्रेणी में ६ रु. २ आने ४ पाई, तीसरी श्रेणी में ७ रुपये ७ आने हैं।

निश्चय ही ये व्यापक वर्ग हैं। यथार्थ में अनेक लोगों की खपत प्रथम श्रेणी की औसत से पर्याप्त अधिक रही होगी। वास्तविक उच्च और निम्न लोगों के बीच अन्तर की मात्रा का ज्ञान १७६६ ई. के एक विवरण से होता है। यह कर्नाटक क्षेत्र का है। पर्याप्त छानबीन के बाद ब्रिटिश अधिकारी इन निष्कर्ष पर पहुँचे कि टीपू सुल्तान का सबसे बड़ा अधिकारी, चित्रदुर्ग के किले का गवर्नर, टीपू के शासन में १०० रुपये प्रतिमाह पाता था। उस क्षेत्र में उन दिनों साधारण श्रमिक की मजदूरी की दर ४ रुपये प्रति माह थी। बाद में ब्रिटिश अधिकारियों ने नये अन्तर पैदा किये। उस समय भी ब्रिटिश जिला कलेक्टर को लगभग १५०० रुपये प्रतिमाह मिलते थे, ब्रिटिश गवर्नर कौंसिल के सदस्य को ६ से ८ हजार रुपये प्रति माह। जबकि भारतीय मजदूरों का वेतन सन् १७६० से १८५० ई. के बीच लगातार घटाया ही जाता रहा। १७६० में भारतीय श्रमिकों, शिल्पियों आदि को मजदूरी के रूप में जो मिलता था, सन् १८५० के आसपास उसका एक तिहाई ही शायद मिलता था, अधिक से अधिक आधे तक।

नयी विषमताएँ मात्र ब्रिटिश अफसरों के वेतन तक सीमित नहीं थीं। जहाँ राजकीय नीति में आवश्यक लगा वहाँ भारतीय अधिकारियों, राजाओं आदि के भी वेतन भत्ते बहुत बढ़ाये गये। मेवाड़ के महाराणा का निजी भत्ता बढ़ाया जाना इसका एक उदाहरण है। मेवाड़ १८१८ ई. में ब्रिटिश संरक्षण में लिया गया। उससे पूर्व तक महाराणा का भत्ता एक हजार रुपये मासिक था ऐसा टॉड ने लिखा है। संरक्षण में लेने के कुछ ही महीनों में अंग्रेजों ने महाराणा का भत्ता एक हजार रुपये रोज कर दिया। पर राज्य के अन्य अनेक खर्चे या तो समाप्त कर दिये या बहुत घटा दिये। कुछ ही वर्षों में महाराणा राज–काज व अपने लोगों से अलग होकर भोग–विलास में पड़ गये।

साधारण लोगों की आमदनी घटायी जाती रही, उनके शिल्प कौशल, अधिकारों एवं आत्म–गौरव को नष्ट किया गया, उन्हें लूटा–पीटा, मारा–निचोड़ा और चूसा गया, अत्याचार और अपमान से जर्जर किया गया। अंग्रेजों ने ही भारत में बंधुआ मजदूरी की शुरूआत की। १८५५ ई. में लार्ड ऐलनबरो के लार्ड केनिंग को लिखे एक पत्र में याद किया कि १५ वर्ष पहले ऐलनबरो ने स्वयं देखा

था कि किस प्रकार शिमला के पहाड़ी क्षेत्र में लोगों से जबर्दस्ती सरकारी काम बेगार पर कराया गया। ऐलनबरो के इस पत्र के साथ शिमला में रहे भूतपूर्व पालिटिकल एजेंट लेफ्टिनेंट कर्नल केनेडी का एक स्मरण पत्र था। उसमें ऐलनबरो का ध्यान इस ओर खींचा गया था कि शिमला क्षेत्र में ब्रिटिश अधिकार जमने के बाद जबर्दस्ती बेगार करायी जाती थी और लगभग ३००–४०० मील लम्बी, चार गज चौड़ी एक पहाड़ी सड़क सन् १८१८ से १८३२ ई. के बीच वहाँ बेगार द्वारा बनवायी गयी थी। उसने यह भी लिखा था कि कुमाऊँ गढ़वाल में यह प्रथा इतनी प्रसिद्ध हो गई थी कि कुमाऊँ गढ़वाल के तत्कालीन कमिश्नर टी. एच. बैटन ने सोचा कि इसे समाप्त करना बेतुका तो होगा ही, साथ ही शिमला के शीर्षस्थ अधिकारियों द्वारा अपनायी गयी नीतियों के अनुरूप भी नहीं होगा। यूरोप में बेगार प्रथा परम्परागत प्रचलित थी। उसे ही भारत में भी शुरू किया गया। यह बेगार पूरे देश भर में करायी गई। १७७० ई. से अंग्रेजों द्वारा इसे भारत में फैलाने के आँकड़े मिलते हैं। पहले पहल के आँकड़े अर्काट के नवाब के क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। नवाब ने इस पर शिकायत की थी। बाद में हैदराबाद, मद्रास, बंगाल, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रान्त समेत सर्वत्र बड़े पैमाने पर बेगार कराई जाती रही।

ब्रिटिश सेना एक स्थान से दूसरे स्थान को निरन्तर कूच करती रहती थी। हर टुकड़ी के साथ आटा दाल विक्रेता, मिठाई वाला, पँसारी, नून्दीवाला, सराफ, तम्बाकू बेचने वाला, तमोली, सूची बनाने वाला, नान बाई, भटियारा, कुँजड़ा, मधुवाला, बिसाती, बारी, ततरा, कसाई, मांस विक्रेता, मोची, तैली, घी वाला, जुलाहा, मड़भूँजा, ऊँटवाला, खोजी, खनदोज, प्यादोज, लोहार, बढ़ई, मुर्गेवाला, तोड़ी वाला, कमरे, हुक्का बनाने वाला, कुली आदि ३४–३५ पेशों के लोग बेगार करते चलते थे। इसके अलावा ३००–४०० बैलगाड़ियाँ व घोड़े, खच्चर इत्यादि बेगार में लिये जाते थे। यह आवश्यक था। नहीं तो पूरा क्षेत्र लूटकर विनष्ट कर दिया जाता और दंडित किया जाता।

यहाँ विज्ञान के एक प्रसिद्ध इतिहासकार जार्ज सार्टन के शब्द स्मरणीय हैं – 'पश्चिमी राज्यों ने अपने पूर्वी भाइयों को न केवल लूटा, शोषण किया और दास बनाया अपितु इससे भी बहुत बुरा व्यवहार किया। वे उनकी आध्यात्मिक विरासत तक को समझ पाने में अक्षम रहे, उन्हें उससे भी रहित करने का प्रयास किया। मात्र उनकी भौतिक सम्पदा एवं वस्तुओं की लूट ही नहीं की, वे उनकी आत्मा पर भी विजय पाना चाहते थे। आज हम अपने पूर्वजों के लोभ और ध ृष्टता का मूल्य चुका रहे हैं।'

इस प्रकार अंग्रेजों द्वारा भारतीय व्यक्तित्व, भारतीय मानस, भारतीय गौरव एवं भारतीय आत्मा को अधीनस्थ कर पूरी तरह रूपान्तरित कर डालने

की सुनियोजित रणनीति की कुछ झलकियों का स्मरण किया। यह अलग बात है कि इस पर भी वे भारत में व्यक्तियों, पशुओं और वनस्पतियों का वैसा व्यापक संहार नहीं कर पाये, जैसा उन्होंने तथा अन्य यूरोपीयों ने अमरीका व आस्ट्रेलिया इत्यादि में किया। उत्तरी, मध्य व दक्षिण अमरीका में तो यूरोप की इस विनाश लीला की शक्ति के टकराव से वहाँ की ६६ प्रतिशत जनसंख्या समाप्त हो गई। सन् १५00 ई. में यह जनसंख्या ६ से १२ करोड़ तक थी, ऐसा माना जाता है। आज कुल अमेरिका के पुराने निवासियों की जनसंख्या २ से ३ करोड़ तक है। सन् १५00 ई. में पूरे यूरोप की जनसंख्या ६ करोड़ से कम ही थी। आज वह जनसंख्या १२0 से १५0 करोड़ तक पहुँच गई है और यूरोप, अमरीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका व विश्व के अन्य स्थानों तक फैली हुई है। भारत में १५0–२00 वर्षों के ब्रिटिश आधिपत्य के काल में शासन की नीतियों से उत्पन्न व प्रभावित दुर्भिक्षों, महामारियों इत्यादि में ५–१0 करोड़ लोग अवश्य अकाल मृत्यु का ग्रास बने तथा गाय–बैल, भैंस एवं अन्य पशु कई करोड़ों की संख्या में नष्ट किये गये। अच्छी नस्ल के गाय–बैल व अन्य पशु तभी से बहुत घट गये। वनों का क्षेत्रफल भी घटा तथा भारतीय वृक्षों का स्थान उल्लेखनीय मात्रा में यूरोपीय वृक्षों–वनस्पतियों को दिया गया। तब भी, हमारा उस सीमा तक तथा उस रूप में विनाश नहीं हो पाया, जैसा कि अमरीका इत्यादि में हुआ। सम्पूर्ण विनाश एवं विश्व विजय की अपनी अपार क्षमता में यूरोपीयों का अडिग विश्वास पिछले कुछ दशकों में हिलने को विवश हुआ तथा किसी न किसी रूप में दूसरों के साथ संवाद का सम्बन्ध रखते हुए उन्हें अपने अनुकूल बनाने का विचार करने को वे बाध्य हुए। यह भारत समेत विश्व के उन सभी समाजों का यूरोपीय बुद्धि एवं आत्मा को विशिष्ट योगदान है, जिन्होंने पराजित एवं हतबुद्धि होने पर भी किसी न किसी रूप में संघर्ष जारी रखा। महात्मा गाँधी ने इस संघर्ष को अधिक व्यापक अर्थ और सन्दर्भ फिर से देने का प्रयास किया तथा भारतीय आत्मा, मानस एवं व्यक्तित्व को फिर से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। इस बीच इन तथा अनेक अन्य अनुभवों के कारण अंग्रेजों ने भी यही उचित समझा कि भारत को अधमरा अधपिटा ही छोड़ कर सत्ता का हस्तान्तरण कर दिया जाय और आवश्यकतानुसार दूर से ही प्रभावित–नियंत्रित करने के तरीके खोजे जाते रहें तथा उन्हें व्यवहार में उतारा जाता रहे। गाँधीजी के नेतृत्व में किये गये भारतीय पुरुषार्थ से आज हम एक राजनैतिक रूप से स्वाधीन समाज हैं और आगे की सम्भावनाओं तथा मार्गों के बारे में सोचने का कर्त्तव्य और चुनौती हमारे सामने है।

भविष्य और सुपथ–गवेषणा

एक स्वाधीन समाज के रूप में हमें अब भविष्य की अपनी सम्भाव्यताओं का विचार करना होगा। इसके लिए अपने इतिहास, समाज और परम्परा का गहरा बोध एवं प्रशान्त विश्लेषण आवश्यक है। साथ ही विश्व के बारे में भी अधिकाधिक और गहरी जानकारी प्राप्त करनी होगी।

सर्वप्रथम तो हमें अपनी पराजय के त्रास से अब मुक्त होना होगा। पराजय के बार–बार स्मरण से मन की हीनता बढ़ती है और बुद्धि तथा चित्त स्वस्थ नहीं रहते। इस हीनता के प्रभाव से भरपूर पराजय का स्मरण करते रहने के कारण ही विगत डेढ़–दो सौ वर्षों में हममें इतनी अधिक स्मृतिभ्रंशता आ गई कि विदेशियों द्वारा हमारे बारे में जो अवधारणाएँ और गाथा गढ़ी गई, उन्हें ही हमने अपना ऐतिहासिक यथार्थ मान लिया। जैसा कि हम स्मरण कर चुके हैं, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, शिक्षा, कृषि, जीवन–स्तर, समाज–व्यवस्था, मानवीय सम्बन्ध एवं मानवीय सद्गुणों में दूसरों से कम न होने पर भी, हार के बाद हमारे नवप्रबुद्ध वर्ग को अपने समाज के परम्परागत जीवन में सभी प्रकार की कमियाँ ही कमियाँ दिखने लगीं। स्मृतिभ्रंशता का यह दारुण रूप है।

लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हमें अपनी पराजय के तथ्य को विस्मृत कर देना है। एक श्रेयस्कर समाज–व्यवस्था कैसे क्रमशः छिन्न–भिन्न होती गई और अभी तक सम्हल नहीं पा रही है, इस पर विवेकपूर्ण चिन्तन एवं विमर्श तो हमारे लिए आवश्यक है।

इस्लाम के अनुयायियों के आक्रमण का हमने सतत् प्रतिरोध किया। उस प्रतिरोध की शक्ति क्या थी, और कमियाँ क्या रहीं, इस पर पर्याप्त विचार आवश्यक है। उस आक्रमण के बाद हम पुनः स्वस्थ क्यों नहीं हो पाये, यह विचार करना हमारे राष्ट्रीय मानसिक–बौद्धिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। हमारे साहस, तितिक्षा, त्याग, संयम और वीरता में कमी नहीं रही। तब भी अपने सम्पूर्ण भारतीय समाज को आक्रमण की चुनौती के विरुद्ध संगठित कर पाने में हम विफल रहे। इस विफलता के कारणों की गहरी परख की आवश्यकता है। इसके लिए अपने सम्पूर्ण इतिहास की प्रशान्त भाव से जाँच–परख करनी होगी। ऐसा लगता है कि हमारे राजनीति तंत्र (पॉलिटी) के शीर्ष स्थानीय लोगों का अपने व्यापक समाज से कुछ कटाव–विलगाव सात–आठ सौ या और अधिक वर्षों पहले से आरम्भ हो गया। यह सही है कि भारतीय समाज अपने

राज्यकर्त्तावर्ग को सदा ही अपने नियंत्रण में और मर्यादा में रखता रहा है। इसका मुख्य आधार भारतीय जीवन–दृष्टि में और उससे प्रेरित हमारी व्यवस्थाओं में ही विद्यमान रहा है। किसी एक तरह के काम को या संस्थाओं, प्रवृत्तियों को प्रमुख मानकर अन्यों को उनके ही अनुरूप तथा अधीन बनाने योग्य मान पाना भारतीय जीवन–दृष्टि में मान्य नहीं रहा है। अतः राज्यकर्त्तावर्ग को अपने स्थान पर, अपनी मर्यादा में ही प्रतिष्ठा देने का भारतीय समाज अभ्यस्त रहा है।

किन्तु दूसरी ओर, सैन्य–आक्रमण की स्थिति में, प्रतिकार का सीधा भार जिस सेना पर आ पड़ता है, उस सैन्य–शक्ति के बारे में शायद भारतीय समाज एक विशेष काल–खंड में पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाया। इसका भी प्रमुख कारण यही दिखता है कि विश्व में ऐसे समूहों, समाजों और संस्थाओं तथा आदर्शों के उदय और विस्तार के बारे में भारतीय मनीषा बहुत कुछ अनजान रही, जो दूसरे मनुष्यों और समाजों का विध्वंस या कि पूर्णतः अधीन बनाकर उनका अपने अनुरूप रूपान्तरण करना अपना परम पुरुषार्थ या परम कर्तव्य मानते हैं और इसी में जीवन का वैभव देखते हैं। भारतीय दृष्टि ऐसे लक्ष्यों एवं दृष्टियों में जीवन का तिरस्कार मानती है और उसे अनुचित समझती है।

भारतीय मनीषा में अपनी विश्वदृष्टि के कारण स्वयं को ही परिष्कृत–सुसंस्कृत बनाये रहने की साधना करते रहने का स्वधर्म–भाव प्रबल रहा। किन्तु किसी कारणवश पर–धर्म का, बाहरी विश्व का पर्याप्त ज्ञान शायद आवश्यक नहीं समझा गया। ऐसी जानकारी के विस्तार को शायद व्यर्थ या उपेक्षणीय माना गया। सम्भवतः इसी कारण अपने सैन्य–बल से विश्वविजय एवं विश्वविध्वंस के लिए तत्पर और सक्रिय समाजों या समुदायों का सामना करने योग्य आवश्यक सैन्य–शक्ति का संग्रह और संगठन करने की ओर भारतीय समाज ध्यान नहीं दे पाया। मूलतः यह भारतीय मनीषा की एक विफलता है। उस विफलता के लिए ग्लानि–भाव या हीन–भाव की आवश्यकता नहीं। किन्तु उसे जान–समझ लेना आवश्यक है।

ऐसा लगता है कि अपनी इसी स्थिति के कारण भारतीय समाज आक्रमणकारियों को परास्त कर उन्हें लौटने को विवश कर देना अथवा समाज के एक अंग के रूप में घुल–मिलकर रहने देना तो जानता रहा है। किन्तु यदि स्थायी आक्रमण–भाव से सम्पन्न शत्रु लम्बे समय तक देश के भीतर जमा–टिका रहे और युद्धरत रहे तथा अधिकांश भारतीय समाज को विनष्ट करने और अवशिष्ट समाज को अपने अनुरूप रूपान्तरित करने की दीर्घकालीन वैर–नीति पर चल रहा हो, तो ऐसे आक्रमणकारी का सामना करने की क्या–क्या नीतियाँ, उपाय और व्यवस्थाएँ हो सकती हैं, इस पर शायद भारतीय मनीषा ने अभी तक

पर्याप्त विमर्श नहीं किया है।

सम्भवतः इसी कारण हम देखते हैं कि चाहे विजयनगर राज्य हो, या मराठा राज्य, या राजस्थान के राज्य, किसी ने भी इस्लाम के अनुयायियों के आक्रमण के निहितार्थों पर विस्तार और गहराई से समीक्षा की हो, विश्लेषण किया हो, उसके सन्दर्भ में दीर्घकालीन नीति निश्चित की हो, ऐसा नहीं लगता। इसी प्रकार पुर्तगाली, डच, फ्रैंच, अंग्रेजों के आने पर और भारत–भूमि पर स्वयं को स्थापित करने पर इसके निहितार्थों का विचार भारतीय हिन्दू या मुस्लिम राज्यों ने किया हो, ऐसा नहीं दिखता। जहाँगीर ने तो पुर्तगालियों के विरुद्ध अंग्रेजों की मदद भी स्वीकार की और विजयनगर के राजाओं और मराठों ने यूरोपीयों से तरह–तरह की सैनिक सहायता अपने लड़ाई–झगड़ों के समय प्राप्त की, यह तो हम सब जानते हैं। यह नहीं कि हमारे समाज को धर्म और स्व–धर्म का बोध नहीं था, या कि अपने पुनः उत्कर्ष, आत्म–गौरव और सफलता की इच्छा नहीं थी। पर शायद यह कह सकते हैं कि 'पर–धर्म' का ठीक–ठीक ज्ञान नहीं था, उसके रूपों और अभिव्यक्तियों की पर्याप्त जानकारी नहीं थी। आगे कभी फिर वैसी ही नई–नई चुनौतियाँ आ जाएँ और नये आक्रमण होते रहें, तो क्या करना है, इसकी कोई राष्ट्रीय तैयारी कभी नहीं हुई। उसका प्रयास भी हुआ नहीं दिखता।

ऐसा न होने के कारण हमारे अभिजनों और राज्यकर्त्ताओं का विदेशी आक्रामकों से रिश्ता प्रगाढ़ होता गया। समय–समय पर वे उन पर निर्भर ही रहने लगे और इस प्रक्रिया में स्वयं अपने समाज के प्रति उनका आत्म–भाव समाप्त होता गया, पर–भाव आता गया। इस स्थिति की ओर शायद सचेत रूप में कभी ध्यान ही नहीं जा पाया।

ऐसी विखंडन की स्थिति में अंग्रेज भारतीय समाज को विशेषतः उत्तर भारत में, पूरी तरह अपने नियंत्रण में लेने में सफल हो गये। जैसा कि हमने विचार किया है, हमारी इस विफलता का कारण आक्रामकों की तुलना में अपने समाज में विषमता की अधिकता, या शिक्षा की कमी या विज्ञान–प्रौद्योगिकी का अभाव या सामाजिकता का अभाव अथवा मानवीय गुणों की विशेष कमी नहीं थी, अपितु एक विशिष्ट राजनैतिक बुद्धि का और आवश्यक बौद्धिक–राजनैतिक निर्णयों का अभाव था।

अंग्रेजी आक्रमण के बाद भारतीय अभिजनों के एक बड़े वर्ग में अपने समाज से और अधिक विलगाव आता गया तथा आक्रामकों के प्रति और अधि क दास्य–भाव आता गया। अंग्रेजों को सामाजिक विध्वंस तथा बलात् सामाजिक रूपान्तरण का, जन–गण को दास बनाने का बहुत लम्बा अनुभव था

और इसमें दक्षता थी। अतः उन्होंने भारतीय विद्या, विज्ञान, संस्कृति, धर्म, शिल्प, कला, साहित्य, कृषि समेत समस्त साधनों एवं जैव–द्रव्यों (बायोमास) तथा बौद्धिक–आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को अपने नियंत्रण में लेकर उन्हें अपने अनुरूप ढाला। जितना विध्वंस और जैसा रूपान्तरण आवश्यक समझा, किया। उस हेतु हर क्षेत्र में नई व्यवस्थाएँ बनायीं ताकि एक सीमित राज्यकर्त्ता समूह ही बौद्धिक–राजनैतिक– सांस्कृतिक क्रियाशीलताओं का अधिकारी रहे और शेष समाज दासों या भेड़ों या द्रव्य–राशि (मैस) की तरह रहे। इसमें शायद यह विचार भी निहित रहा होगा कि वृहत् समाज की जनसंख्या इतनी नियंत्रित रखी जाय, ताकि उसे आगे चलकर कभी अच्छी तरह पाला–पोसा जा सके, पशुओं की तरह उनका ठीक से पालन–पोषण हो और अपने प्रयोजनों के लिए उनका उत्तम औजार के रूप में समुचित प्रयोग किया जाता रहे तथा वे सब इसी में अपनी धन्यता, अपनी सार्थकता अनुभव करें। जैसी कि पहले चर्चा हो चुकी है, यूरोप में शताब्दियों से ऐसा ही होता रहा था। भारतीय संस्कृति की भी एक ऐसी व्याख्या और छवि प्रस्तुत की जाय कि आधुनिक यूरोपीय संस्कृति का एक 'टूल', एक औजार बनने में भी उसकी प्रासंगिकता और सार्थकता दिखने लगे, यह प्रयास एवं विचार रहा दिखता है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति, आधुनिक यूरोपीय संस्कृति का एक सक्षम सेवक या परिष्कृत औजार के रूप में रूपान्तरित और व्याख्यायित कर दी जाय तथा इसी में उस संस्कृति का गौरव और धन्यता मानी जाय, यह योजना रही है। इसके लिए रची गई संस्थाओं और व्यवस्थाओं का पर्याप्त प्रभाव हुआ। हमारे समर्थ सपूतों और सुपुत्रियों तक में उसके प्रभाव देखे जा सकते हैं।

लेकिन यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि यह कोई भारत की ही अनूठी स्थिति नहीं है। पराजय की दशा में हर समाज में तरह–तरह से बिखराव आता है, टूटन आती है, हीनता आती है, विकृतियाँ आती हैं। फिर, साधना और तप से, समझ और पुरुषार्थ से समाज पुनः स्वस्थ हो सकता है तथा उत्कर्ष प्राप्त कर सकता है। पराजय, विकृति या रोगों का ही स्मरण करते रहना स्वास्थ्य–लाभ में बाधक बनता है। उसका निदान कर लेना पर्याप्त है। फिर उसके प्रभावों को दूर करने में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। विगत का शोक और हीनता का भाव समाज को स्वस्थ होने देने के मार्ग में बड़ी बाधा है।

विश्व के सभी समाज पराजित भी होते रहे हैं। स्वयं ब्रिटेन इतिहास में ग्यारहवीं शताब्दी तक बार–बार पराजित हुआ। ग्यारहवीं शती ई. में नार्मनों ने ब्रिटेन के तत्कालीन समाज को परास्त कर ध्वस्त कर दिया और उस विध्वंस में से ही अपना सशक्त राज्य रचना शुरू किया। मुख्यतः उसी आधार पर ब्रिटेन

तब से अब तक टिका हुआ है। रूस भी बार–बार पराजित होता रहा। आज वह विश्व की एक महाशक्ति है। मध्य एशिया के लोगों का तथा नार्मनों का आक्रमण रूस को शताब्दियों तक झेलना पड़ा, लेकिन उसमें से वह उभर आया। चीन पर भी मध्य एशिया के विविध समुदायों के अक्रमण हुए और सन् १८00 ई. के बाद तो यूरोप ने चीन को घेर ही लिया और सौ–सवा सौ वर्षों तक अपने आधिपत्य में रखा। आज चीन अपनी सभ्यता का पुनः संगठन कर एक बड़ी शक्ति के रूप में उठा है। दक्षिण यूरोप के अनेक देशों पर एक समय इस्लाम का आधिपत्य रहा और वे उसके द्वारा अधीन रखे गये। बाद में बहुत कुछ इस्लाम की ही तरह, वे स्वयं विश्व में अपना साम्राज्यवादी विस्तार करने लगे। इस अर्थ में शायद ब्रिटेन व यूरोप का उदाहरण भारतीय समाज के स्वास्थ्य लाभ के सन्दर्भ में अप्रासंगिक है। किन्तु इस तथ्य का तो स्मरण कर ही सकते हैं कि १६ वीं शती ई. के बाद अन्य समाजों को पराजित करने वाले यूरोपीय राज्यकर्त्ता समुदाय उससे पहले स्वयं शताब्दियों तक पराजित होते रहे थे।

सम्भवतः जापान का उदाहरण भारत के लिए और अधिक उपयोगी हो। लगभग १५५0 ई. से वहाँ पुर्तगाल और हालैंड के व्यापारी तथा जेसुइट मिशनरी जाने लगे। ऐसा कहा जाता है कि ५0 वर्षों के भीतर जापान में पाँच लाख लोगों को ईसाई बना डाला गया। तब जापान सजग हुआ। उसने पुर्तगाल से सम्बन्ध तोड़ लिये। मिशनरियों को बाहर निकाला और आने से रोका। मात्र डचों को १८६0 ई. तक कुछ बन्दरगाहों वगैरह में आने–जाने दिया। अपने मतलब का सम्पर्क रखा। ऐसा कहा जाता है कि इस इतने सम्पर्क के द्वारा ही जापान ने अपने ढंग से यूरोप को, यूरोपीय बुद्धि को समझ लिया। माना जाता है कि जैसे कैमरे का 'एपरचर' पूरी तरह तस्वीर ग्रहण कर लेता है, वैसे ही जापानियों ने इस सीमित सम्पर्क से यूरोपीय व्यक्तित्व को जान लिया और उसमें से उन्हें जो ग्रहण करने योग्य लगा, वह ग्रहण कर लिया तथा आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार बिखरता व सिकुड़ता जापान फिर से एक सम्पन्न, सबल देश बनने लगा।

फिर सन् १८८४ ई. में जापान में तीस खंडों वाली एक दसवर्षीय योजना बनी। इस योजना का नाम था 'कोग्यो आइकेन।' इसमें कहा गया–

'जापान के उद्योगों के निर्माण में किस बात को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए। वह न तो पूँजी हो सकती है, न ही नियम–व्यवस्थाएँ क्योंकि ये दोनों मृत वस्तुएँ हैं, इनमें स्वयं में प्राण नहीं है और ये स्वतः प्रभावशाली नहीं हैं। आत्मशक्ति एवं इच्छा इन दोनों को गतिवान बनाती है। ......यदि इनके प्रभाव के सामर्थ्य के अनुरूप हम इन तीनों को महत्त्व दें, तो आत्मबल और

इच्छा को पाँच भाग प्राप्त होगा विधान एवं नियम व्यवस्थाओं को चार भाग, तथा पूँजी को केवल एक भाग।'

हम आज देखते हैं कि आत्मबल एवं इच्छा तथा तदनुरूप खड़ी की गई व्यवस्था के बल पर जापान सशक्त बनकर उभरा। वस्तुतः ये नियम सार्वभौम ही हैं। भारत में भी यही मान्यता रही है। 'क्रियासिद्धि सत्व से होती है, उपकरण से नहीं' — जैसी अनेक सूक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। 'रघुवंश' और 'मुद्राराक्षस' में भी ऐसे कथन हैं। यूरोप भी जब खड़ा हुआ होगा और फैला होगा, तो इन्हीं नियमों से। उन नियमों की अभिव्यक्ति उसने अपनी दृष्टि के अनुरूप की। जब यूरोपीय समाजों ने फैलना शुरू किया, तो उनके पास साधन विशेष नहीं थे। न शिक्षा, न विज्ञान, न प्रौद्योगिकी, न कृषि, न शिल्प, दूसरों की तुलना में उनके पास ये कोई विशेष अधिक नहीं थे। उत्पादन और पूँजी भी अन्य समाजों से अधिक नहीं थी। किन्तु उन्होंने संकल्प—बल (स्पिरिट) और इच्छा—शक्ति के साथ संगठित ढंग से फैलना शुरू किया। वैसी व्यवस्थाएँ बनाते गये तथा फिर साधन भी जुटते गये। विश्व के सभी समाजों तथा व्यक्तियों के लिए ये नियम सामान्य हैं।

भारत में गाँधीजी ने जब समाज का पुनस्संगठन शुरू किया, तब भी यही प्रक्रिया अपनायी। उन दिनों हम में हीनता गहरी आ गयी थी, साधन छीने जा चुके थे, समाज को दरिद्र—कंगाल बनाया जा चुका था। गाँधीजी ने आत्मबल एवं इच्छा—शक्ति से समाज को संगठित करना प्रारम्भ किया तथा समाज के आत्मबल और इच्छा को जगाया। उसके लिए आवश्यक वैसे संगठन खड़े किये, जैसे कि उन दिनों सम्भव थे। तब साधन भी जुटने लगे और स्वतन्त्रता के लक्ष्य की ओर बढ़ना भी संभव हुआ।

इसीलिए अपनी पराजय को लेकर क्रन्दन या विलाप या शोक करते रहना बन्द करना होगा। विश्व के सभी समाज जय—पराजय के अलग—अलग क्रमों से, उतार—चढ़ाव से गुजरते रहे हैं। हम अपने को बहुत अलग, अनोखा या बहुत विशेष हीन न मानें।

हमारी सभ्यता की स्थिति तो कई तरह से बेहतर है। हमारी अपनी विशेषताएँ भी हैं। पिछले पाँच हजार और उससे भी अधिक समय से हमारा समाज अधिकांशतः उन्हीं जनसमूहों का रहा है, जो तब से अब तक पीढ़ी—दर—पीढ़ी इसी भूमि पर रहते आये हैं। अनेक देशों में तो आक्रान्ता समुदाय ही शासक बन बैठे और पुरातन समाज को आत्मसात् कर लिया। हमारे यहाँ वैसी स्थिति नहीं आई। आक्रामकों का प्रभाव तो पड़ा, पर इतना नहीं कि हम पूर्णतः रूपान्तरित हो, उनके औजार हो जाएँ। हाँ, हमारे अभिजात—वर्ग या राज्यकर्त्ता एवं शक्तिशाली वर्ग में अवश्य पिछले ८00—१000 बरस में गठबंधन

की प्रवृत्ति प्रबल रही। समाज से वे अधिकाधिक कटते गये। पर अभी भी भारतीय समाज की अपनी परम्परा प्रवाहित है। वह समाज अपनी अभिव्यक्ति विविध रूपों में करने का प्रयास भी करता रहता है। यह सही है कि अंग्रेजी राज्य के समय हमारे अभिजनों में हीनता बहुत गहरी होती गई और अपने इतिहास तथा वर्तमान तक को ये अभिजन अंग्रेजों की ही दृष्टि से देखने में धन्यता का अनुभव करने लगे। तब भी इनमें से जो सपूत—सुपुत्रियाँ आगे आये, उनमें देशभक्ति भरपूर रही और अपनी बुद्धि के अनुरूप उन्होंने देश को सुदृढ़ बनाने की इच्छा रखी और प्रयास किये।

ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज जैसे ईसाइयत से अभिभूत प्रयासों के पीछे भी शायद दृष्टि यही रही कि एक सुदृढ़ भारत का निर्माण करना है। यह अवश्य रहा कि देश की यह कल्पना इन लोगों के भीतर यूरोपीय ही रही। देश के लोगों के प्रति उनमें आत्म—भाव नहीं रहा। तरस या दया का अथवा दुःख—क्षोभ का तथा कुछ करुणा का भाव प्रमुख रहा और देशवासियों के कल्याण के लिए उनका रूपान्तरण आवश्यक लगता रहा। यह दृष्टि रही कि वे हमारी योजना में सहभागी हों, उसके अंश बनें, तभी उनका कल्याण है। देशवासी स्वयं जो सोचते हों, योजना बनाते हों, उसका महत्त्व इन लोगों की दृष्टि में नगण्य ही रहा।

विवेकानन्द जैसी प्रतिभा इनसे भिन्न थी। उनमें भारतीय लोगों के प्रति गहरा ममत्व था, आत्मीयता थी। उनकी दुर्दशा पर गहरी यंत्रणा थी, वेदना थी, विक्षोभ था, पीड़ा थी। वे इस दुर्दशा का अन्त चाहते थे। इस हेतु व्यग्र थे। किन्तु अपने बंगाली परिवेश और बंगाल के नवप्रबुद्ध वर्ग की संस्कृति से भी वे स्वाभाविक ही प्रभावित रहे। राजेन्द्र लाल मित्र जैसे आधुनिक बंगाली विद्वानों की इतिहास—दृष्टि को उन्होंने इतिहास तथ्य मान लिया। इस प्रकार इतिहास का भ्रान्त ज्ञान उन्हें व्याप्त किये रहा। भारत को शताब्दियों से दरिद्र, विषमताग्रस्त, विज्ञानविहीन, प्रौद्योगिकी रहित तथा भारत के वृहत् समाज को शिक्षा रहित, असंस्कृत, पिछड़े मानने वाली इतिहास—दृष्टि का प्रभाव उन्हें बाँधे रहा। निश्चय ही आयु भी इसमें एक कारण थी। विवेकानन्द में प्रबल प्रतिभा थी और यदि वे तीस—चालीस वर्ष और जीवित रहते तो शायद बहुत कुछ समझ लेते तथा सम्हाल लेते। यूरोपीय इतिहास—दृष्टि का ऐसा ही प्रभाव बंकिम इत्यादि पर भी दिखता है। बंकिम के समय से लेकर अब तक शिक्षित वर्ग में यह प्रभाव बढ़ा ही है, यह तो हम आज देखते ही हैं।

स्वामी दयानन्द जैसे लोगों की अलग पृष्ठभूमि रही। दयानन्द अपने सीमित परिवेश के प्रभाव से बहुत दिनों बँधे रहे। भारतीय किसानों एवं ग्रामीणों की जीवन—दृष्टि और समाज—दृष्टि से उनका अपरिचय रहा। पूजा—पाठ करने

व शास्त्र वगैरह पढ़ने–पढ़ाने वाले समुदाय से ही अधिक परिचय रहा। फलतः प्रगाढ़ देश–प्रेम एवं संस्कृति–प्रेम होने पर भी वे यूरोपीय मनीषा और भारतीय मनीषा के आधारभूत अन्तरों को पहचान नहीं पाए। किन्तु वे एक परिश्रमी और कुशल संगठक थे। संयम और तप से सम्पन्न इनके जीवन ने अनगिनत लोगों के संस्कृति–प्रेम एवं आत्मगौरव के भाव को प्रेरणा दी। लेकिन उनके जाने के बाद उनके मानने वाले प्रमुख व्यक्ति अधिकांशतः पश्चिमीकृत ही बने।

इसके पहले जो भक्त सन्त हुए, उन्होंने समाज की कमियों और शक्ति को अपने ढंग से समझा था। समाज को संगठित करने के उन्होंने अनेक प्रयास किये और उन प्रयासों का परिणाम भी हुआ। बसवेश्वर, कबीर, रविदास, दादू, मीरा, तुलसी, सूर, नामदेव, तुकाराम, ज्ञानदेव जैसे सन्तों–सिद्धों ने भारतीय समाज को पुनस्संगठित करने के अनेक उपाय किये। उनका कुछ प्रभाव भी हुआ। परन्तु सामाजिक दृष्टि से उत्तरी भारत में किसी भी सन्त का प्रभाव यहाँ के शक्तिशाली स्वेदशी अभिजनों में पर्याप्त रहा नहीं दीखता। उत्तरी भारत के अभिजन विदेशी आक्रामकों के प्रति दास्य–भाव में अधिक बँध गये दिखते हैं।

अंग्रेजी राज में तो ऐसा अभिजन–समूह अधिकाधिक शक्तिशाली बना, और अपने समाज से अधिकाधिक कटा हुआ भी। इसकी परिणति जवाहरलाल नेहरू जैसे व्यक्तियों में हुई। ये पश्चिमीकृत अभिजन, यूरोप के अधिकाधिक सम्पर्क में आते गए। विशेषकर इंग्लैंड के। वहीं पढ़ने व सीखने जाने लगे। इससे पश्चिम के प्रति लगाव और पश्चिम के अनुकरण की प्रवृत्ति बढ़ी। इन लोगों में राष्ट्रवाद था, राष्ट्र को सुदृढ़ देखना चाहते थे। ये अंग्रेजों से भारत को छुटकारा भी दिलाना चाहते थे। यह छुटकारा कैसे मिले, यह प्रश्न था। साथ ही उनके जाने के बाद यहाँ की जीवन–व्यवस्थाएं कैसी हों, यह 'मॉडल' निश्चित करने का प्रश्न था।

अंग्रेजी शिक्षा और यूरोपीय सभ्यता से प्रभावित समूह इन प्रश्नों का कोई वास्तविक उत्तर नहीं ढूँढ़ पाये। अंग्रेजों के अधिक सम्पर्क से इन्हें लगा कि हम भी भारत में इनकी जगह ले सकते हैं। अतः अंग्रेज जाएं, इसके लिए तो इनमें व्यग्रता बढ़ी। किन्तु साथ ही, उनकी जगह स्वयं लेकर भारतीय समाज को वैसे ही चलाने की ललक भी बढ़ी, जैसे कि इनकी समझ से अंग्रेज चला रहे थे। जीवन का, सभ्यता और समाज–व्यवस्था का वही 'मॉडल' इन्हें सार्वभौम लगता था। उससे छुटकारे की वे कल्पना तक नहीं कर पाते थे।

उस 'मॉडल' से छुटकारा पाने की आवश्यकता गाँधीजी को लगी। इसीलिए वे एक ऐसी व्यवस्था की भी रूपरेखा प्रस्तुत कर पाए, जो अंग्रेजों के जाने के बाद भारतीय समाज एवं राज्य के संचालन का आधार बनती। गाँधीजी

पश्चिम को भी ठीक से समझ पाए और अपनी चिन्तन–परम्परा, जीवन–दृष्टि परम्परा से भी कटे नहीं। यह कैसे हुआ, इसका ठीक–ठीक कारण तो ज्ञात नहीं। शायद काठियावाड़ रियासत के परिवेश के कारण और साथ ही किसानों से संस्कार, बुद्धि, आदर्शों, आकांक्षाओं से परिचय के कारण वे ऐसा कर पाए, या अन्य कई कारण रहे होंगे। शायद वे अवतारी प्रतिभा थे। जो भी हो, आधुनिक यूरोप की ठीक–ठीक पहचान के साथ ही, वे अपनी भारतीय बुद्धि खो देने से भी बचे रह पाये, यह बड़ी बात है और इसी कारण उन्होंने जो भी संस्थाएं और व्यवस्था बनाई, जैसे अखिल भारतीय कांग्रेस का विधान, उसमें वही परम्परागत भारतीय बुद्धि और व्यवस्था ले आये।

गाँधीजी के पहले कुछेक सौ वर्षों से भारत में मानो क्षेत्र या अंश विशेष के ही प्रतिनिधि नेता उभरते रहे। गाँधीजी सम्पूर्ण समाज के नेता बने। उनमें इधर कई–सौ वर्षों बाद पहली बार सम्पूर्ण समाज ने अपनी अभिव्यक्ति पाई। इसी को शायद हमारे यहाँ अवतार कहा जाता है। गाँधीजी ने भारतीय परम्परा की पुनर्प्रतिष्ठा की। ऐसा नहीं है कि उन्हें समाज की कमियाँ नहीं दिखती थीं या पुरुषार्थ और सृजन–शक्ति में आ गई कमी नहीं दिखती थी। वह सब दिखता था। पर साथ ही उन्हें इस समाज की शक्ति, इसका शील, इसकी सृजनात्मकता भी दिखती थी। इसकी अपनी जो बोध–परम्परा, पुरुषार्थ–परम्परा, जीवन–परम्परा थी, उसका महत्त्व भी उन्होंने समझा। गाँधीजी ने उसे ही वापस लाने का प्रयास किया। परम्परा की नयी अभिव्यक्ति की। इससे समाज का भय मिटा, हीनता घटी, आत्मबल जगा और रचना की इच्छा जगी। यही गाँधीजी का मुख्य सामाजिक योगदान है कि उन्होंने भारतीय समाज के विश्वास को फिर से प्रतिष्ठा दी, शक्ति दी, प्रत्यावर्तन किया। भारतीय जीवन–दृष्टि, भारतीय सभ्यता के अनुरूप क्या समाज–व्यवस्था, राज्य–व्यवस्था एवं अन्य व्यवस्थाएं हो सकती हैं, इस पर सोचने के आत्मविश्वास और इच्छा को गाँधीजी ने जागृत किया और इससे भारतीय समाज में शक्ति की अनुभूति होना आरम्भ हुआ। गाँधीजी ने परम्परागत 'मॉडल' की पुनर्रचना की कोशिश की। उससे पूरे देश में प्राण का, आत्मगौरव का और सृजनशीलता का पुनः संचार हुआ। यूरोपीय सभ्यता और भारतीय सभ्यता के आधार, लक्ष्यों, कार्य–पद्धति के अन्तर को समझकर उसे व्यापक बोध का आधार बनाने का प्रयास गाँधीजी ने किया। सभ्यता के इन आधारभूत अन्तरों को समझे बिना हम कुछ भी रच नहीं पायेंगे।

मानव जाति की विविध सभ्यताएँ रही हैं और हैं। इनके इतिहास और स्वरूप पर अनुसंधान का कार्य लगातार चलता रहता है। मुख्यतः तो हर समाज

अपनी सभ्यता की स्मृति अपने ढंग से जीवंत रखता है और यह स्मृति ही संस्कार, संकल्प, प्रेय तथा श्रेय के रूपों में आकांक्षा और सर्जना के विविध पुरुषार्थों का आधार बनती है। इस स्मृति का बने रहना ही किसी विचार और व्यवहार को अधिप्रमाणित करता है। स्मृतिरहित कथन या चिन्तन, अधिप्रमाण्यरहित कथन या चिन्तन हो जाता है। उसका वास्तविक बल रह नहीं जाता।

प्रत्येक समाज में स्मृति–रक्षा या स्मृति–प्रवाह की परम्परा भिन्न–भिन्न होती है। स्मृति, संकल्प, बोध और लक्ष्य के विशिष्ट लक्षणों द्वारा ही किसी सभ्यता की विशेष पहचान होती है। मनुष्य मात्र में कतिपय मूलभूत प्रेरणाएँ होती हैं। ये प्रेरणाएं सार्वभौम हैं। इस स्तर पर सार्वभौमिकता या 'यूनिवर्सेलिटी' आधारभूत तथ्य है। साथ ही, प्रत्येक सभ्यता में ऐसी प्रेरणाएँ विशिष्ट पुरुषार्थो–रूपों का आधार बनती रही हैं। समाज का जीवन, समाज के आदर्श, समाज के परस्पर व्यवहार, विद्या सम्बन्धी बोध और विभाग, विद्या की विविध शाखाओं–अध्यात्म, भाषा, व्याकरण, दर्शन, शिल्प, समुदाय, कृषि, आहार, विहार; भूषा, भवन, भोजन, सज्जा, शिष्टता आदि सम्बन्धी विचार और व्यवस्थाएँ; कला, संगीत, नृत्य, साहित्य, काव्य, इतिहास या स्मृति–परम्परा; गणित, चिकित्सा, जीवन– विधि, संयम–विधि, स्वास्थ्य–विद्या या आयु–विद्या, विविध संस्कार, अनुष्ठान, घर, घर की रचना, घर की रक्षा, घर की सुरक्षा, घर का वैभव, घर का परिवेश, अपने पालतू प्राणियों तथा परिवेश के प्राणियों, पशु–पक्षियों आदि जीवों एवं वनस्पतियों के प्रति दृष्टि, भाव तथा व्यवहार; उपासना, शिष्टाचार, तथा अन्य पक्षों के अंगभूत कार्मकांड, राज्य, राज व्यवस्था, राजनीति तंत्र, समाज के विविध समुदायों की स्थिति का निरूपण और उनके परस्पर सम्बन्धों के आधारों का निरूपण, सैन्य–विद्या एवं सैन्य–आदर्श, सैन्य–बल–संगठन, व्यापार–वाणिज्य, परिचर्या–कर्म, जन्म, विवाह, परिवार, नर–नारी में परस्पर आदर या अनादर और समाज में ऐसी मान्यताओं का स्थान, संतति आदि से सम्बन्धित श्रद्धा–परम्पराएं, वीरता, विनय और साहस तथा शिष्टता, समझौता और सहनशीलता संबंधी विचार और व्यवहार, सौन्दर्य और कुरूपता, सुरुचि और कुरुचि तथा शील और स्वैराचार सम्बन्धी विशिष्ट बोध एवं मान्यताएं, मृत्यु तथा श्राद्ध परम्पराएं, दंड और क्षमा सम्बन्धी विचार और व्यवहार आदि प्रत्येक सभ्यता के विशिष्ट लक्षणों के क्या–क्या कारण हुआ करते हैं, यह निरन्तर अध्ययन, अनुसंधान, अवधान और जिज्ञासा के विषय हैं। स्वयं इन लक्षणों की समझ का स्वरूप भी किसी सभ्यता के ही विशिष्ट लक्षण समुच्चय का अंग होता है। अतः ये विशिष्ट लक्षण अधिक से अधिक जानना ही किसी सभ्यता को जानना है। उसके बिना मात्र सार्वभौमता को जानना, वस्तुतः लगभग न जानने

जैसा है। मात्र सार्वभौमता को जानना बौद्धिक तमस में प्रसुप्त रहता है। जगत् गति का ज्ञान उससे नहीं होता। परागति के लिए जो तेजस चाहिए, वह भी इस मूढ़ता की चित्त दशा में सम्भव नहीं होता। इस प्रकार विशिष्ट लक्षण प्रमाण–संयुक्त वस्तुतत्त्वों का विवेक ही धर्म के बोध का माध्यम होता है।

सभ्यताओं के ये वैशिष्ट्य, मात्र देश–काल के भेद से नहीं होते। उन्हें मात्र भिन्न–भिन्न देश–काल के प्रति एक ही सार्वभौम और एकरूप मानवीय चेतना की भिन्न–भिन्न प्रतिक्रियाएं या 'रेस्पांसेज' मानना जीव की शक्तियों की अवहेलना करना है। 'रेस्पांसेज' स्मृति और संस्कार के आधार पर होते हैं। लेकिन स्मृति विशेष और संस्कार विशेष का एक दीर्घ विस्तृत एवं गहरा व्यापक प्रवाह होता है, जो भिन्न–भिन्न समाजों में भिन्न–भिन्न होता है। स्वयं भाषा इन्हीं विशिष्ट प्रवाहों की वाहक होती है। अतः मात्र सार्वभौमता का स्तर भाषा के परे का स्तर है। भाषा जिस स्तर से आरम्भ हो जाती है, वहीं से सभ्यता का वैशिष्ट्य भी प्रमुख हो जाता है। घट रही घटना और देख रही बुद्धि–दोनों जीव के स्तर पर साथ–साथ हैं। इसीलिए किसी भी घटना, क्रिया या वस्तु का बोध, मात्र बाहरी वस्तुतंत्र का परिणाम नहीं होता, वह आन्तरिक चित्ततन्त्र का भी परिणाम होता है। हमारे यहाँ तो बाहर भी चित्–सत्ता मानी गई है। महाकवि तुलसीदास के शब्दों में 'अन्तरजामिहु ते बड़ बाहिरजामी हैं राम।' अतः उस दृष्टि से वस्तु और चित्त का आब्जेक्टिव–सब्जेक्टिव वाले अर्थ में विभेद सम्भव नहीं। कह सकते हैं, बाह्य वस्तुतंत्र एवं आन्तरिक वस्तुतंत्र दोनों ही प्रत्येक घटना, क्रिया या भव–रूप के सन्दर्भ में साथ–साथ हैं, साथ–साथ सक्रिय होते हैं। एक अर्थ में दोनों स्वायत्त व स्वप्रतिष्ठ हैं, पर अधिक गहरे अर्थ में दोनों परस्पर आश्रित हैं एवं अभिन्न भी हैं। अतः इसे ही, यों भी कह सकते हैं कि बाह्य चित् प्रवाह और आन्तरिक चित्त प्रवाह साथ–साथ हैं, प्रत्येक घटना, क्रिया या भव–रूप के सन्दर्भ में दोनों का समान महत्त्व है।

इसीलिए मात्र देश–काल का महत्त्व नहीं, चित्त परम्परा का भी महत्त्व है यानी सभ्यता विशेष का। प्रत्येक सभ्यता की अपनी ज्ञान–परम्परा, चित्त–परम्परा होती है। विश्व में विविध सभ्यताएं हैं और ये आपस में एक दूसरे को ऊँचा–नीचा, श्रेष्ठ–निकृष्ट देखती हैं या समान स्वतंत्र अभिव्यक्तियों के रूप में देखती हैं या कि सागरीय वृत्तों की तरह देखती हैं – आदि भेद भी सम्बन्धित सभ्यता की ही विशेषता होती है। निश्चित ही इस चित्त परम्परा में बहुत सी बातें सामान्य होती हैं। लेकिन बहुत–सी विशिष्ट भी होती हैं। और ये विशिष्टताएं ही किसी सभ्यता का विशिष्ट लक्षण या गुण–धर्म होती हैं। अतः भारत और यूरोप को जानना दो भिन्न–भिन्न सभ्यताओं को जानना है। इन्हें

किसी सार्वभौमता भर पर आग्रह के साथ जानने की चेष्टा पर बल देने से जान पाना असम्भव हो जायेगा।

यहाँ यह स्मरण स्वाभाविक है कि हजारों साल से दुनियां में विविध मानव जातियाँ, विविध सभ्यताएँ सक्रिय हैं। उनमें परस्पर आदान–प्रदान भी होता रहा है, प्रभाव ग्रहण करना और सम्प्रेषित करना निरन्तर चलता रहता है। पुरानी सभ्यताओं में से चीन और भारत का उल्लेख किया जा सकता है, जो अभी भी सक्रिय हैं। ये भी परस्पर प्रभावित होती रही हैं। यूरोप से भी इनका सम्बन्ध रहा है। आदान–प्रदान का रिश्ता भी रहा है। किन्तु साथ ही यूरोप की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। वे विशेषताएं विगत ४००–५०० वर्षों में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची और उनसे इस पृथ्वी की सभी मानव जातियाँ प्रभावित हुई। अनेक सभ्यताएँ तो इस यूरोपीय प्रभाव से नष्ट हो गई। अनेक में अन्य तरह के परिणाम उभरे। इसीलिए उन विशेषताओं का स्मरण आवश्यक है। हम इन विशेषताओं को अपने सन्दर्भ के साथ स्मरण करें, तो अधिक सुगमता होगी।

सर्वप्रथम हम अपनी सभ्यता की आधारभूत विशेषताओं का स्मरण कर लें, क्योंकि उन्हें सामान्यतः हम जानते हैं और वे हमारी प्रतिमाएँ हैं, हमारी माप हैं। उनके प्रमाण से ही हमें अन्य विषयों की वास्तविक प्रमा यानी बोध सम्भव है। इनका स्मरण इसलिए आवश्यक है, क्योंकि जैसा हम देखेंगे हमारी सभ्यता के इतिहास के उत्कर्ष और अपकर्ष, स्वावलम्बन और अधीनता, वैभव और अभाव सभी में इन प्रतिमानों और प्रतिमाओं की निर्णायक भूमिका है। संक्षेप में इन्हें सात मुख्य आधारों के रूप में समझा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक आधार के कम से कम तीन पक्षों की स्मृति भी साथ–साथ होती है। वैसे तो प्रत्येक आधार के अनेक पक्ष हैं –

१. सत्य, ऋत, सनातन धर्म ।
२. अनन्तता, वैविध्य, विविध धर्म ।
३. अनन्त पथ, अनन्त यज्ञ, अनन्त लीला या माया ।
४. त्रिविध श्रद्धा (सात्विक, राजसिक, तामसिक)
५. विवेक, तर्कणा, आप्तवचन ।
६. कर्मफल, कर्तव्य–कर्म, स्वधर्म ।
७. अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म–वस्तुसत्ता के तीन पक्ष ।

इनका विस्तार यहाँ अप्रासंगिक है। इसके विपरीत यूरोपीय चित्त परम्परा के ये मुख्य आधार दिखते हैं –

१. सत्य–दूत (चिन्तक, मैसंजर, प्रभुपुत्र–विशेष आदि) जिसके माध्यम से ही द ट्रुथ, द गुड, द ब्यूटी की सही समझ सम्भव है।

२. मैटर यानी यह सब विश्व।
३. स्पिरिचुअलिटी, जो सत्य–दूत की शरण में जाने पर ही प्राप्त होना सम्भव है।
४. फेथ, जो स्पिरिचुअलिटी का सच्चा लक्षण है।
५. लॉजिक और रेशनेलिटी। (भारतीय दृष्टि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में विवेक शक्ति होती है जबकि लॉजिक और रेशनेलिटी विशेष प्रशिक्षण से ही सम्भव माने जाते हैं।)
६. फेट या डेस्टिनी। (भारत में इससे विपरीत भाग्य और कर्मफल की बात है, जो व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ का परिणाम है। फेट या डेस्टिनी पूर्व–निर्धारित होते हैं।)
७. मेटाफिजिक्स, जो इन सबका नियामक है।

ग्रीक काल से ही यूरोपीय सभ्यता इन्हीं आधारों पर टिकी रही है। हर धारा में असहमतियाँ एवं विद्रोह उभरते हैं। अतः यूरोप में भी उभरते रहे। पर कोई भिन्न प्रवाह वहाँ ज्ञात इतिहास में उभरा नहीं दिखता। अनन्तता का बोध जहाँ अनन्त सागरीय वृत्तों के बोध की ओर ले जाता है, वहीं सत्य–दूत द्वारा अनुशासित 'मैटाफिजिक्स' एक विशिष्ट उच्चावच्चक्रम युक्त समाज–पद्धति को जन्म देती है। इसीलिए ग्रीक सभ्यता के काल से ही वहाँ दास–प्रथा पर आधारित समाज रहा। यहाँ समता–विषमता वाली बात नहीं की जा रही है। कुछ न कुछ विषमता, अधिकारों और स्रोतों सम्बन्धी विषम आचार–व्यवहार सम्पूर्ण विश्व में रहे हैं, अतः भारत में भी रहे हैं। ऐसा नहीं है कि भारत में सम्पन्नों ने विपन्नों के प्रति मात्र करुणा ही की। निश्चय ही मारा–पीटा, लूटा तभी विपन्नता सम्भव हुई। अपने अधिकार अधिक रखना सत्तारूढ़ लोगों की प्रकृति है और वह भारत में भी रही। अपने ही लोगों के दमन–उत्पीड़न, अधीनता में रखने, पर–भाव से देखने और व्यवहार करने के भारतीय इतिहास में भी साक्ष्य मिल जायेंगे। अधर्म और अनौचित्य से पूर्णतः रहित कोई समाज शायद ही रहा हो।

अपनी अनुचित और अधर्ममय अभिव्यक्तियों को धर्मानुकूल बताने की प्रवत्तियाँ भारत में भी मिलेंगी। किन्तु बहुत बड़े पैमाने पर विशाल जनगण को दास बना रखना और इसी में परम श्रेष्ठता मानना मुख्यतः यूरोपीय परम्परा है। दास बनाने को इतना गरिमामंडित और कहीं नहीं किया गया।

थोड़े से लोग, मुख्यतः एक व्यक्ति, चिन्तक, उद्धारक, पैगम्बर या मसीहा और उसके अंगरूप सच्चे सेवक, उन्हें मिलाकर बनी संस्था या निकाय, ये ही सत्य और संस्कृति के वाहक होते हैं। उन्हें सत्य की सेवा में विशाल जनगण को नियोजित रखना चाहिए। इन जनगण को जहाँ तक सम्भव हो, सुप्रबन्ध में

रखना चाहिए, ताकि उनसे निश्चित प्रयोजन के लिए सक्षम ढंग से काम लिया जा सके। वे एक चुस्त औजार का काम कर सकें। इसी में उन सबका उद्धार है, मुक्ति है, सार्थकता है। इसी उद्धार के लिए विशिष्ट सभ्यजनों को पृथ्वी पर काम करना है। यही उनका स्वाभाविक अधिकार और कर्तव्य है। यह सुनिश्चित एवं प्रतिष्ठित यूरोपीय दृष्टि है। आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी इसी लक्ष्य को अपने ढंग से पाने का प्रयास करती है। विश्व का समस्त जैव–द्रव्य (बायोमास) अपने नियंत्रण में रखने का दायित्व यूरोपीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी का है। विश्व के समस्त विचार अपने व्यवस्था–क्रम के अन्तर्गत रखने का दायित्व यूरोपीय–दर्शन और मानविकी विद्याओं का है।

इस प्रकार ये दो भिन्न–भिन्न सभ्यता–दृष्टियाँ, सभ्यता–बोध, सभ्यता–नीति तथा सभ्यता–लक्ष्य हैं। भारत में आज दोनों का प्रभाव है। एक सीमित शक्तिशाली वर्ग यूरोपीय दृष्टि को मानता है। वृहत् समाज भारतीय संस्कारों वाला है। इनकी परस्पर टकराहट है और एक दूसरें की अवहेलना की प्रवृत्ति भी बन गई है।

अवहेलना और टकराहट की यह स्थिति दूर करनी होगी। हमारे समाज की एकता और अखण्डता के लिए, उसके जीवित व प्राणवान रहने के लिए तथा विश्व में अपना स्वधर्म निभाने के लिए यह आवश्यक है कि टकराहट और आत्म–विरोध की यह स्थिति समाप्त की जाय। अभी की स्थिति चलने वाली नहीं।

भारतीय समाज आज दो भागों में विभक्त है, यह यथार्थ स्थिति है। इसे अस्वीकार करने से लाभ नहीं। अतः इनमें परस्पर सम्बन्ध क्या हो, यह निश्चित करने की आवश्यकता है। यहीं रहना तो दोनों को है। क्योंकि दोनों यहीं के हैं। यह देश दोनों का है। वृहत् भारतीय समाज का तो है ही, पश्चिमीकृत भारतीयों का भी है।

पश्चिमीकृत भारतीयों में हमारी आज की सभी संगठित पार्टियाँ हैं, विशेषतः इनके शीर्षस्थ नेता हैं। उन्होंने पश्चिम का ही 'मॉडल' अपना रखा है कि देश के बारे में सोचने का सामर्थ्य हम थोड़े ही लोगों में है। हम राजनीति–वैज्ञानिक हैं। यह समाज हमारे वैज्ञानिक प्रयोगों और वैज्ञानिक प्रबन्ध के लिए है। इस समाज को रूपान्तरित करना है, तभी वह वैज्ञानिक प्रबन्ध के योग्य बनेगा। पार्टी का 'कैडर' रूपान्तरण की इस वैज्ञानिक प्रक्रिया का उत्प्रेरक है, 'कैटलिटिक एजेंट' है। 'मासिज' (masses) का रूपान्तरण होना है।

इस दृष्टि के पोषण हेतु आधुनिक विद्या–संस्थाएँ हैं, जो यूरोपीय

'मॉडल' पर रची गई हैं। विविध अकादमियां, परिषदें, विद्या–संगठन मिलाकर एक पूरा तन्त्र रचते हैं, जो रूपान्तरण का बौद्धिक सांस्कृतिक परिवेश रचने एवं प्रशिक्षण देने का दायित्व निभाते हैं। हमारे अधिकांश आधुनिक शिक्षाविद्, अकादमीशियन, आधुनिक विद्वान, लेखक आदि इस पश्चिमीकृत हिस्से का विद्या अंग हैं। आधुनिक अशासकीय संस्थाएँ भी इसी अंग में आती हैं।

पर्यावरण के लिए आधुनिक ढंग से काम करने वाले, उन्नत कृषि, सामाजिक वानिकी, बंजर भूमि विकास, आदि के लिए कार्यरत अनेक संगठन भी पश्चिमीकृत वर्ग की नैतिक शाखाएँ बनते जा रहे हैं।

आधुनिक राज्य तंत्र के दो–ढाई लाख व्यक्ति पश्चिमीकृत वर्ग की प्रशासनिक शाखा हैं, जिन्हें यूरोप की भाषा में भारत का 'आफिसर क्लास' कहा जा सकता है।

सन् १७५० से १८५० ईस्वी तक तो भारत में व्यवस्थाओं, खेती व शिल्प उद्योग आदि के तन्त्र और सामाजिक, शैक्षणिक व सांस्कृतिक संस्थाओं के बिगड़ने का समय ही रहा। अंग्रेजों ने इन सौ वर्षों में जो स्थापित भी किया, उसका ध्येय केवल भारत पर विजय प्राप्त करना, भारत के जनमानस को दासता में बाँधना और भारत से हर तरह से जितना भी धन व पैदावार ले जायी जा सके, उसको सीधे व भिन्न–भिन्न रास्तों से यूरोप पहुँचाना था। सन् १८५० ई. तक भारत की व्यवस्थाएं, तन्त्र व संस्थाएँ उजड़ ही गयी थीं। जहाँ कहीं कुछ बची थीं तो वह बचना या तो सिसकने जैसा था या वह एक तरह के अदृश्य (अण्डरग्राउंड) स्तर पर ही रहा।

सन् १८५० के बाद भारत की स्थिति अधिक बिगड़ी। जिसका परिणाम यह भी होने लगा कि खेती की पैदावार घटने लगी, लोगों की खपत की शक्ति नहीं के बराबर रह गयी और हर जगह भुखमरी, दारिद्र्य व कंगाली दिखने लगी, जिससे लोगों में ब्रिटिश राज्य के प्रति अरुचि और क्रोध बढ़ता ही गया। ऐसी ही स्थिति में अंग्रेजी राज्य ने भारत में यूरोपीय तरीकों के माध्यम से यातायात, उद्योग व खेती में भी नयी व्यवस्थाएँ व तन्त्र खड़े करने के प्रयास प्रारम्भ किये। इन प्रयत्नों में से रेलें निकलीं, डाक–तार व्यवस्था बनने लगी, कुछ पक्की सड़कें बनीं और कुछ यूरोपीय ढंग से कपड़े व शक्कर इत्यादि बनाने के कारखाने बनने शुरू हुए। यूरोप में १९०० ईस्वी के करीब या उसके बाद से बिजली व पेट्रोल से चलने वाली मोटर, लारी, ट्रक, इत्यादि आरम्भ होने पर इनका भी भारत में प्रसार हुआ। इसी समय कुछ लोहे व इस्पात के यूरोपीय ढंग के कारखाने भी स्थापित हुए, १९४७ ईस्वी तक कपड़े व शक्कर बनाने के कारखाने तो भारत में काफी बनाये जा चुके थे। सन् १९३९–१९४५ के यूरोपीय युद्ध के समय कुछ बन्दूक, बारूद इत्यादि के कारखाने भी बने। इने–गिने

ट्रैक्टर व कुछ रासायनिक उर्वरक भी १६४७ ईस्वी तक भारत में आने शुरू हो गये थे।

१८५० ई. के बाद अंग्रेजी राज्य ने भारत में जो नये दिखने वाले काम किये, उनका उद्देश्य पहिले से बहुत भिन्न नहीं था। उद्देश्य तो यही था कि कैसे भारत की पैदावार का एक बड़ा हिस्सा भारत में अंग्रेजी साम्राज्य चलाने के लिये बराबर मिलता रहे, कैसे उनका कुछ भाग ब्रिटेन जा सके, और कैसे ब्रिटेन के बढ़ते वस्त्रोद्योग व दूसरे उद्योगों के सामान भारत में बेचे जा सकें। सन् १८५० के बाद नहरों इत्यादि के बनाने व मरम्मत का जो काम शुरू हुआ, या दक्षिण के एक लाख से ऊपर सिंचाई के तालाबों पर सौ वर्ष के बाद जो कुछ थोड़ा बहुत खर्च हुआ, उसका ध्येय ब्रिटिश सामान बेचना व भारत का धान व पैदावार ब्रिटेन में जाते रहने के प्रबन्ध को पक्का करना ही था। भारत में आधे से अधिक फसल को सरकारी भूमि–कर में लेने के खिलाफ सन् १८५०–७० के करीब ब्रिटेन में जो चर्चा चली, वह इसी तथ्य को लेकर थी कि अगर भारतीय किसान व नागरिक इतना भारी कर ब्रिटिश सरकार को दे देता है, तो ब्रिटेन के कारखानों का कपड़ा इत्यादि भारत में कैसे बिकेगा।

सन् १६४७ ई. से अब तक स्वतंत्र भारत में जो हुआ, वह बड़ी सीमा तक सन् १८५० ई. के करीब अंग्रेजों ने जो यहाँ आरम्भ किया था, उसी का विस्तार है। सन् १६४७ ई. तक भी यूरोपीय ढंग के उद्योगों या खेती में जो–जो परिवर्तन इत्यादि भारत में किये गये, वे यूरोप में हो रहे कार्यों से २० से ५० वर्ष पीछे ही थे। यहाँ तक कि भारत के विश्वविद्यालय भी आक्सफर्ड व कैम्ब्रिज के 'मॉडल' पर न बनकर ईस्वी सन् १८२५–३० में लन्दन यूनिवर्सिटी का जो 'मॉडल' बना था, उस पर बनाये गये। लन्दन यूनिवर्सिटी का 'मॉडल' तो ५०–६० वर्ष बाद बदल दिया गया। लेकिन भारत में अभी तक वही पुराना १८२५–३० ई. का 'मॉडल' ही मुख्यतः चलता है। इस 'मॉडल' के होने से ही भारत के लगभग सभी १००–१५० विश्वविद्यालयों में आधे के करीब विद्यार्थी बी.ए. व बी.एस.सी. की परीक्षाओं में हर वर्ष असफल बना दिये जाते हैं। जिस तरह का उत्पादन विश्वविद्यालयों में होता है, वैसा ही अधिकांशतः भारतीय वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रयोगशालाओं में, उद्योगों में, चिकित्सा में व खेती इत्यादि में होता है। एक विद्वान मित्र की मान्यता है कि बाहर के संकर बीज व उर्वरकों से हम आज जो गेहूँ आदि पैदा करते हैं, वह यूरोप व अमरीका में तो पशु ही खाते हैं। हमें अगर गेहूँ का विदेशों में निर्यात करना होगा तो उसके लिये तो दूसरे बीज व तरीके बरतने पड़ेंगे। सन् १६४७ ई. से अब तक पश्चिमी व अन्य देशों से हमारे यहाँ जो भी सामान आता है, वह बहुत कर के कचरा ही है – ये चाहे लड़ाकू विमान हों, पनडुब्बियाँ हों, बन्दूकें और बारूद हो, दवाई व उनके पेटेण्ट हों, बिजलीघरों

की मशीनें हों, कम्प्यूटर हों, व अनाज, दूध पावडर, बटर ऑयल, उर्वरक जो भी हों। हमारे बड़े नेताओं का, जो कांग्रेस की सन् १६३८ ई. में बनायी हुई राष्ट्रीय योजना समिति के कर्णधार थे, सोचना भी आज जो सब हुआ है या हो रहा है उससे भिन्न नहीं था। उनका मॉडल सन् १६१० व १६२० ई. का यूरोप व अमेरिका व रूस था, वे पश्चिम की चकाचौंध से मोहित थे और पश्चिम का कबाड़ भी उनकी दृष्टि में मोती और जवाहिरात जैसा था। आज के अनेक युवा वैज्ञानिकों का मानना है कि आज जो हम अमरीका, यूरोप, रूस इत्यादि से सरकारी तंत्र व बड़े औद्योगिक तंत्र की मार्फत पैसा देकर व उधार खरीदते हैं उसमें से अधिकांश अमरीका के बाजारों में हमें चौथाई दाम पर मिल सकता है। केवल कुछ मेहनत की और खरीदे जाने वाले समान की पहचान की जरूरत है। आजकल विदेशी हथियार इत्यादि खरीदने पर कमीशन मिलने की बात को लेकर जो तेज चर्चा देश में चलती है– वैसे तो ऐसी चर्चा पिछले २०–२५ बरस से ही भारत में सुनने को आती रही है – उसका सार्वजनिक नैतिकता आदि की दृष्टि से चाहे कितना भी महत्त्व हो, देश की बरबादी की दृष्टि से तो भारत में पिछले ४० वर्षों से विदेश से जो भी लाया जाता है, चाहे वह मुफ्त ही आता हो, वह सब देश के लिये विनाशकारी है।

अपनी इस बरबादी के रास्ते पर जो हम चलते रहे हैं, वह किसी एक व्यक्ति विशेष के कारण नहीं। अधिकांशतः तो ऐसा चलना हमें ऐतिहासिक विरासत में अंग्रेजी साम्राज्य से व्यवस्था, तंत्र, शिक्षा और मान्यताओं के रास्ते मिला है। भारत में जो दो लाख के करीब परिवार देश की व्यवस्था, औद्योगिक–वाणिज्य और वित्तीय तंत्र, देश के विज्ञान, प्रौद्योगिकी व शिक्षा संस्थाओं, देश की रक्षा–व्यवस्था, देश की संसदीय व्यवस्था व न्याय व्यवस्थाओं इत्यादि को सँभाले हुए हैं, वे सब इस बरबादी के काम में भागीदार हैं। इनमें से अधिक तो मानसिक दृष्टि से देश के आधे ही नागरिक हैं, उनका चित्त तो विदेशों में ही भटकता है और वहीं कुछ रस पाता है। उनमें से अधिकांश के परिवारों में से कोई न कोई अधिकांशतः विदेश ही रहता है, और इन दो लाख में से अधिकांश हर वर्ष नहीं, तो दो चार बरस में एक बार, विदेशों में अपने दिल व दिमाग की ताजगी के लिये जाते ही हैं।

भारत में १२–१५ करोड़ परिवारों में से केवल दो लाख परिवार ही भारत की हर तरह की व्यवस्था की देखभाल करते हैं, यह कोई निराली बात नहीं है। पश्चिम के सभी देशों में 'ऑफिसर क्लास' और साधारण प्रजा का ऐसा ही अनुपात शायद प्लेटो के समय से ही मिलेगा। लेकिन फर्क इतना है कि पश्चिम की 'ऑफिसर क्लास' में स्वयं पहल करने का सामर्थ्य है, उसमें शक्ति की समझ है और उसके प्रयोग करने में कोई दुविधा नहीं। शक्ति के इस्तेमाल में

स्वयं को भी परेशानी होती है, यह पश्चिमी सभ्यता अर्से से जानती है। इसी समझ में से प्लेटो के 'फिलासफर किंग' की व बीसवीं सदी में बर्नार्ड शॉ के 'सुपरमैन' की बात निकली। किन्तु हमारे इन दो लाख परिवारों का ध्येय तो आलस व तमस ही है, और कहीं भी खतरा दिखने पर या तो विदेश भागने की सोचना व विदेशी संरक्षण में जाना। पश्चिम से दूसरा बड़ा भेद भारत में यह है कि हमारी 'आफिसर क्लास' की जीवन शैली व जीवन का मुहावरा, विचार और व्यवहार के रूप एवं अभिव्यक्ति–विधियाँ, अभारतीय हो गये हैं। उत्तर भारत में तो यह कई–सौ बरसों से होने लगा था। लेकिन पिछले दो–सौ वर्षों में और विशेषकर पिछले ४० वर्षों में इन दो लाख परिवारों और वृहद् भारतीय समाज के १२–१५ करोड़ परिवारों के मध्य परस्पर संवाद के माध्यम और मार्ग ही समाप्त होते जा रहे हैं। क्योंकि आज के समय में यह सम्भव नहीं है कि ये दो लाख, इन १२–१५ करोड़ को फिर दासता की बेड़ियों से जकड दें और इसके बाद भारत में समृद्धि व शक्ति ला पायें, इसलिये यह अब आवश्यक हो गया है कि 'ऑफिसर क्लास' और भारत के वृहद् समाज को या तो किसी तरह एक सूत्र में बॉध दिया जाये या फिर इनके बीच में आवश्यक दूरी स्थापित कर दी जाय।

पिछले चालीस बरसों में भारत में वनों और जल का अकाल बढ़ता जा रहा है। भारत की कृषि भूमि की उर्वरता भी बहुत घटती जा रही है। बरसात की बाढ़ों का रूप भी तीव्रतर हुआ है। अन्न की पैदावार – नये बीज, कृत्रिम खाद व बढ़ती सिंचाई के कारण अवश्य बढ़ी है, लेकिन भारत के आधे के करीब लोग आज भी कैलोरी के हिसाब से भी पूरा खाना शायद वर्ष में कभी ही खाते हों। पौष्टिक विटामिन इत्यादि के हिसाब से तो शायद ८०–६० प्रतिशत लोगों का दैनिक भोजन पोषण की किसी भी तरह की तराजू पर नहीं बैठता, इस तराजू पर भी नहीं कि शरीर स्वयं ही किसी भी तरह के भोजन को यानी केवल कार्बोहाइड्रेटों वाले भोजन को आवश्यकता के अनुसार प्रोटीन इत्यादि में बदल लेता है। अगर यह 'थियोरी' और खोज ठीक होती तो कोई आवश्यकता नहीं थी कि भारत का सब दूध, फल, सब्जी, भारत के गॉवों और दूसरे पैदावार वाले स्थलों से खिंचकर भारत के महानगरों व दूसरे बड़े नगरों में इकट्ठी हो जाती, जैसा कि पिछले २०–३० वर्षों में बड़ी व्यापकता से होता जा रहा है। आज के भारत के कोई ही ग्राम ऐसे होंगे, जिनमें वहाँ पैदा होने वाला ५ प्रतिशत दूध भी (या उस दूध का बना दही, मक्खन, घी व छाछ) वहीं के अपने इस्तेमाल के लिये ग्राम में रह जाता है। ग्राम में पैदा हुए फल व सब्जी भी ग्राम में तो शायद खाने को नहीं मिलते। कहीं ये फल व सब्जी ग्राम में ही न रह जायें, इसी की सम्भावना को दूर रखने की दृष्टि से (जरूरी नहीं कि यह सब सुनियोजित

प्रयासों का परिणाम हो, यह आज के केन्द्रीय विचार स्रोत का परिणाम ही शायद अधिक हो) इन फलों, सब्जियों की किस्में ही बदल डाली गयी हैं। देसी आम का स्थान कलमी आम ने ले लिया है, अमरूद का स्थान सेब ने। और इस तरह से दूसरे फलों व सब्जियों को इस तरह से बदला गया है कि वे ज्यादा दिन टिक सकें और उनका यातायात आसान बने। यह कहने में शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आधा प्रतिशत भारतीय परिवारों ने आज के तर्क में बँधकर एक राक्षसी रूप धारण कर लिया और ६६.५ प्रतिशत भारतीय जनता मानो इस राक्षसी वृत्ति का आहार ही रह गयी है। अगर आज की स्थिति ही चलती रही तो जल और वृक्षों के क्षेत्र में भी शायद वैसा ही हो जाये जो दूध, फल और सब्जियों के क्षेत्र में हुआ है।

भारत के साहित्य, कला, संगीत, नृत्य, खेलकूद, नट–करतब व नट–विद्या वाले कौशल (एक्रोबेटिक्स) इत्यादि के क्षेत्रों में भी ऐसा ही हुआ दिखता है। हो सकता है, भारत के सैकड़ों व हजारों गॉवों में जो आग पर चलने की प्रथा आज भी प्रचलित है – आज से दो सौ वर्ष पहले तो यह उत्सव कम से कम दक्षिण व मध्य भारत के हर क्षेत्र में मनाया जाता था– वह भी दस–बीस वर्ष के बाद भारत के अभिजनों के लिये ही रह जाये। तब ऐसा तो शायद अवश्य हो सकता है कि भारत के इस 'फायर वॉकिंग' का सार्वभौमीकरण हो जाये और वह विश्व के औलम्पिक्स का एक बड़ा खेल बन जाये। ऐसा होने पर साधारण भारतीयों का जीवन इससे भी वंचित रह जायेगा, जैसा कि वह संगीत, नृत्य, कला, साहित्य से वंचित रह गया है। टेलीविजन की बदौलत दर्शक होने की अनुमति उसे अवश्य है, शायद समय बीतते–बीतते दर्शक होना उसका कर्त्तव्य ही माना जाने लगे। लेकिन साझेदारी से उसका रिश्ता टूट ही गया है और यह टूटना पक्का हो जाये, इसका प्रयत्न हर तरह से जारी है। कला, संगीत, नृत्य इत्यादि से वंचित होने से पहले ये ६६.५ प्रतिशत परिवार अपनी खुली शरीर चिकित्सा, शिक्षा–दीक्षा, जल प्रबन्ध, ग्राम और नगर नियोजन और रूपाकृति–रचना से अधिकांशतः वंचित हो ही चुके थे। जहॉ कानूनन उनके इन कार्यों की मनाही नहीं हुई, वहॉ उनके इन क्षेत्रों में कार्यो को अन्धविश्वास माना गया, उनकी बात–बात पर खिल्ली उड़ाई गयी, उन्हें लज्जित किया गया, और सबसे अधिक उनके पास ऐसे साधन नहीं रहने दिये गये कि वे ऐसे किसी भी काम को कर सकें।

वैसे यह सब जो हुआ, संसार में नया नहीं है। जिसे प्रजातंत्र का गढ़ माना जाता है, उस ब्रिटेन में तो आक्सफोर्ड व कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों का यह प्रयत्न रहता ही है कि हर क्षेत्र का श्रेष्ठ व्यक्ति (खिलाड़ी, तैराक, नाविक, गायक इत्यादि सब उसमें शामिल हैं) जहॉ तक हो सके, उन विश्वविद्यालयों में

से ही निकले और ऐसे निपुण लोग कहीं और से निकल भी आयें तो उनको ये विश्वविद्यालय या इनका सहायक तंत्र समायोजित करता चला जाये। यूरोप और अमरीका के देशों में स्थिति इससे मिलती–जुलती ही होगी। प्राचीन ग्रीस में तो ऐसा होता ही था।

इस पश्चिम के दिये हुए लक्ष्यों के अनुसरण में हमने भारत की सब तरह की स्वदेशी व्यवस्थाओं और प्रतिभाओं को या तो बेकार बना दिया या उन्हें समेटकर संग्रहालयों व अभिलेखागारों में रख दिया या उन्हें भारत के आध ा प्रतिशत लोगों के सुपुर्द कर दिया। इसका नतीजा है कि भारत ने एक 'स्लम' का रूप ले लिया है। और हमारे जैसे बुद्धिजीवी इसको कह देते हैं कि यह तो भारत का परम्परागत रूप है। अपनी बात को साबित करने के लिये जहाँ–तहाँ से विदेशियों के (किन्हीं खोज निकाले गये अथवा प्रसिद्ध प्राचीन भारतीयों के भी) बयान जोड़ दिये जाते हैं, कि भारत में तो हमेशा दुःख ही दुःख रहा है। हम सब जानते ही हैं कि और तो और कार्ल मार्क्स ने भी भारतीय जीवन व सभ्यता को गयी–बीती दिखलाने की दृष्टि से इसी तरह की बातें लिखीं।

इतने सब धक्कों के बावजूद भी भारत के लोग अपने जीवन में एक सन्तुलन कायम करने के लिये, अपने निरन्तर दुःख दर्द और दारिद्र्य को भूलने के लिये, उनसे जो कुछ बन पड़ता है, और जो कानून व उसके एजेण्ट उन्हें करने देते हैं, या जो उनसे छिपा करके किया जा सकता है, करते ही हैं। लोग सब कठिनाइयों और रुकावटों के रहते हुए भी कुछ इधर–उधर की यात्रा करते ही हैं, मन्दिरों के छोटे–मोटे उत्सव मनाते ही हैं, जहाँ–तहाँ जब–तब यह सुनकर कि कहीं कोई देवी या सन्त प्रकट हुए हैं, उस तरफ भागते ही हैं, कहीं–कहीं समय पर नंगे होकर उत्सवों में आनन्दोल्लास–मग्न नृत्य करते ही हैं। एक तरह से ये सब, जहाँ भी जो हो सकता है, पहल अपने हाथों में लौटाने के उनके तरीके हैं, और अगर उन्हें एक क्षेत्र में पहल का अवसर मिलता है तो वह दूसरे क्षेत्रों में भी मिल ही जायेगा, ऐसी उनकी सोच है। लेकिन हमें तो यह सब अच्छा नहीं लगता। प्लेटो, यूरोपीय ईसाईयत, पश्चिमी रैशनलिज्म, मार्क्सीय समीक्षात्मक विश्लेषण पद्धति सबके बोझ से हम लदे हैं। हमारे प्राचीनतम ध ार्मग्रन्थों के बोझ से भी हममें से काफी दबे हैं।

ऐसा हम कैसे होने दें। जो भी राजनैतिक सत्ता हमारे पास, जो भी पुलिस व अस्त्र–शस्त्र हमारे अधीन हैं, वह सब हम इन बातों को रोकने के लिए प्रयोग करते हैं। लेकिन कुछ बहुत सफलता कम से कम इन क्षेत्रों में तो नहीं मिलती। नैतिक सत्ता या किसी तरह की अध्यात्म–शक्ति तो हमारे पास है नहीं। हमारे संन्यासियों व धर्मगुरुओं के पास तक ऐसी नैतिक व आध्यात्मिक

शक्तियों का ह्रास हुआ है। परिणाम यह है कि भारत दो भागों में बँट गया है। एक भाग है उन आधे प्रतिशत लोगों का, जो भारत के तंत्र और साधन–स्रोतों को नियंत्रित करते हैं और दूसरा है उन ९९.५ प्रतिशत का (इनमें से १५–२० प्रतिशत शायद आधे फीसदी के सहायक व नौकर माने जा सकते हैं, और सुरक्षा व अध िक आमदनी का लोभ इन्हें काफी समय तक बाकी ८०–८५ प्रतिशत से अलग रख सकता है), जो केवल अपने सीमित व अवशिष्ट बल पर जी रहे हैं और जिनका किसी भी तरह का बौद्धिक व सामाजिक सम्पर्क भारत के शासक वर्ग व 'आफिसर क्लास' से नहीं है।

यह स्थिति तो अधिक नहीं चल सकती। दो ढाई हजार वर्ष से पश्चिम में अपनाये जा रहे हल भी (जिनके मार्फत ९९.५ प्रतिशत को पूरी दासता मे बॉध ा दिया जाता, उन्हें मशीन की तरह माना जाता, जैसे अरस्तू ने दासों को माना ही था) हमारे यहाँ आज तो नहीं चल सकते। ऐसी शक्ति व मानसिकता भी हमारे 'ऑफिसर क्लास' की नहीं है।

अगर आज संसार में और देशों के सम्पर्क में रहने की बात नहीं होती, तो यह हमारी दुविधा कुछ आसानी से हल हो सकती थी। बाहर का इतना घनिष्ट सम्बन्ध और आना जाना नहीं होता, तो हमारे समाज के इन दोनों भागों का एक दूसरे से अदान–प्रदान, क्रिया–प्रतिक्रिया आवश्यक हो जाती। उनमें टकराहटें, झगड़े होते, शायद कुछ खून–खराबा भी हो जाता, लेकिन इस सबसे या विवेक के जगने से, ये दो भाग करीब ही आते। इन दोनों की अभिव्यक्ति–पद्धति एक बनती, जीवन की शैली एक आधार पर खड़ी होती और ये एक–दूसरे के लिये अजनबी न रहते।

लेकिन आज के संसार से सम्पर्क टूटना तो सम्भव नहीं। परन्तु इस संसार की 'थियॅरीज', अवधारणाओं और संरक्षण से तो हम निकल ही सकते हैं। इसी सदी में महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्रता संग्राम के समय हमारे में से अध िकांश को इन 'थियॅरीज', अवधारणाओं और संरक्षण से निकाल लिया था। कम से कम इतना करना तो अभी भी असम्भव नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि हम गाँधीजी के विचारों पर आधारित राज्य, समाज और अर्थव्यवस्था ही मानें। हम आज भारत के लिये एक नया अवधारणात्मक आधार व रूपरेखा जो भारत के मानस व प्रकृति से मेल खाती हो, बना सकते हैं। भारत के लिये एक नयी 'यूनीफाइड थियॅरी', एक नया 'एकीकृत सिद्धान्त' निकाल सकते हैं, जिसके सहारे भारत, भारतीयता न खोते हुए, आज के संसार से बराबर का रिश्ता रख सके और पश्चिमी (यूरोपीय, अमरीकी और रूसी) सैन्यवाद के इस काल में अपनी सुरक्षा के लिये आवश्यक राजनीतिक व भौतिक ढंग से तैयार रह सकें। जापान ने यह सब किया है और एक तरह से चीन भी इस तरह के प्रयत्न में

काफी सफल ही रहा।

पिछले चालीस वर्षों में भारत में इतने सब विरोधाभासों के बावजूद, इतना तो हुआ ही है कि हजारों भारतीय युवक–युवतियों ने न केवल अपने वृहद् समाज से जुड़ने व एकरूप होने के प्रयत्न किये हैं, किन्तु पश्चिमी सभ्यता के उपकरणों को भी काफी हद तक समझ लिया है। ऐसे व्यक्ति अब पाश्चात्य सभ्यता से ऐसे चकाचौंध नहीं हैं जैसे कि ४०–५० बरस पहिले तक के भारतीय–शिक्षित होते थे। इनमें से बहुतों ने अपने पुरातन को भी समझने की कोशिश की है और ऐसा लगता है कि काफी बड़ी संख्या में हमारे यहाँ ऐसे युवक और युवती तैयार हो रहे हैं जो भारतीयता को छोड़े बिना उसमें पश्चिम के जिन उपकरणों को और उनकी विद्या को आज की स्थिति में आत्मसात् करने की आवश्यकता है, उतना शीघ्र ही कर पायेंगे। ऐसे युवक और युवती, भारत के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों और विशेषज्ञताओं में फैले हैं, और इनमें देश प्रेम, वृहद् समाज से मानसिक आत्मीयता भरपूर है। पाश्चात्य विद्या पर भी इनका अधिकार आज कम नहीं है।

आज की स्थिति में यह विचारणीय है कि भारत में वृहद् समाज को साधन व स्वातंत्र्य मिले, जिससे वृहद् समाज की इकाइयाँ अपनी मान्यताओं, व्यवस्था की अपनी प्रणालियों और तकनीकी ज्ञान के आधार पर चल सकें। भारत में कृषि व प्रौद्योगिकी या ऐसे अन्य क्षेत्रों में ८० प्रतिशत उत्पादन तो आज भी परम्परागत भारतीय प्रतिभा के बल पर ही होता है। साधन व स्वातंत्र्य रहेगा, तो यह प्रतिभा परिष्कृत ही होगी और इनके परिष्कृत होने पर यह भी सम्भव हो पायेगा कि पश्चिम के ज्ञान और भारतीय वृहद् समाज के ज्ञान में कुछ संवाद और लेनदेन कायम हो सके। वृहद् समाज के पास आवश्यक साधन व स्वातंत्र्य आना आज के भारत के पश्चिमीकृत अंग के लिये भी शुभ होगा, इस अंग को भी स्वातंत्र्य मिलेगा, इसका मानसिक व भौतिक बोझ घटेगा और इस बोझ के घटने से इसकी अपनी सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति तथा पश्चिमीकृत ज्ञान की समझ व पहिचान और इसमें भारत के लिये उपयोगी और आवश्यक है ज्ञान को आत्मसात करने का एक बड़ा अवसर मिलेगा। अतः यह आवश्यक है कि पश्चिमीकृत वर्ग अपने ऊपर लाद लिये गये बोझ से स्वयं भी मुक्ति पाये और वृहद् समाज के प्रति अवहेलना भाव को भी त्यागे, उससे सद्भाव स्थापित करे। प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र, ग्राम या ग्राम समूह को तथा शहरों के मुहल्ले या वार्ड को आवश्यक स्थानीय स्वायत्तता दी जा सकती है। शिक्षा, आवास, उत्सव, मनोरंजन आहार–विहार के प्रबन्ध, सुरक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, चिकित्सा, कृषि, सिंचाई, शिल्प, हुनर, स्थानीय एवं लघु उद्योग, सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ, धार्मिक

क्रियाशीलताएँ, संवाद एवं संचार माध्यम, स्थानीय परिवहन, यातायात आदि मामलों में भिन्न–भिन्न स्तर पर स्वतंत्रता दी जाए। इसमें पक्षपात आदि होने का भय त्याग देना चाहिए। वह पक्षपात अभी केन्द्र व प्रदेशों के स्तर पर कम नहीं चलता। स्थानीय इकाइयों में इससे अच्छा ही चलेगा, परस्पर का नैतिक दबाव रहेगा।

भारत के सुरक्षा के संयंत्र व महानगरीय क्षेत्रों की पश्चिमीकृत आवश्कताएँ (जिनकी इन क्षेत्रों की 'जण्ट्री' को आदत पड़ गई है।) पश्चिमीकृत ढंग से भारत के महानगरों व इनसे मिलते–जुलते ५०–१०० क्षेत्रों में बनायी जा सकती हैं। बाकी सब वृहद् समाज के क्षेत्र में बनेगा, वृहद् समाज के अपने तरीकों व रूपाकारों के अनुसार। लेकिन जहाँ–जहाँ वृहद् समाज को पश्चिमीकृत ज्ञान व संसाधनों की आवश्यकता होगी (जैसे कि ऊर्जा के क्षेत्र में ईंधन गैस और प्रकाश विश्लेषण के द्वारा बनी बिजली की) वहाँ पश्चिमीकृत क्षेत्रों का यह कर्त्तव्य होगा कि इस तरह के आत्मसात्करण में वृहद् समाज के कहने पर उसका हाथ बटाएँ।

इस तरह के बँटवारे में यह आवश्यक है कि आज तक पिछले ४० वर्षों में भारत में सरकारी व गैर–सरकारी स्तर पर जो नयी योजनाएँ, कल–कारखाने, सिंचाई व बिजली बनाने के कार्यक्रम, यातायात का इन्तजाम, मकान बनाने के रूपाकार आदि के तरीके चले हैं, उनकी पूरी तरह से समीक्षा हो। हो सकता है कि समीक्षा होने पर यह पाया जाये कि इनमें से काफी काम मुख्यतः आवश्यक ही रहे हैं और इनकी व्यवस्था व रूपाकारों में कोई बड़ी त्रुटियाँ नहीं रही हैं। लेकिन जब तक ऐसी समीक्षा पूरी नहीं हो जाय, तब तक लगभग सभी क्षेत्रों में नये काम उठाना या पुरानों को बढ़ाना बन्द किया जाय। यह भी मान लिया जाय कि भारत की जल व्यवस्था, वन व्यवस्था, कृषि और पशुपालन, कपड़े, शक्कर और भवन निर्माण सामग्री से सम्बन्धित कार्य वृहद् समाज की जिम्मेदारी रहेंगे और पश्चिमीकृत क्षेत्रों को इन बातों में अपनी आवश्यकताओं व प्राथमिकताओं को वृहद् समाज की इस जिम्मेदारी के अन्तर्गत ही रखना होगा।

लेकिन भारत में दो सौ वर्ष के विनाश और उपेक्षा के कारण बहुत से क्षेत्रों में बड़े–बड़े प्रश्न खड़े हो गये हैं। भारत को न केवल अपनी जल, वन, कृषि, लघु उद्योग की व्यवस्था का पुनरुद्धार करना है, न केवल नदियों की गहराई बढ़ानी और उनका प्रदूषण घटाना है, किन्तु भारत के विद्या व सांस्कृतिक केन्द्रों की पुनर्स्थापना करनी पड़ेगी। दो सौ वर्ष तक भारत की हर विद्या व हुनर का ह्रास हुआ है। इस पुनर्स्थापना के लिये यह तो आवश्यक है ही कि शिक्षा की विषय–वस्तु और व्यवस्था का विश्लेषण होकर एक नयी विषय–वस्तु की शिक्षा

(शिशु शिक्षा से विश्वविद्यालयों और उच्चस्तरीय शोध संस्थाओं तक) पुनः स्थापित हो। इसमें सबसे पहला काम, जो एक दो वर्ष के अन्दर ही देश भर में स्थापित किया जा सकता है वह है 'पड़ोसी स्कूलों' की स्थापना। बीस पच्चीस वर्ष से ऐसा करने की बात चलती रही है। हर क्षेत्र में व शहरों के हर वर्ग किलोमीटर में उस क्षेत्र के सभी घरों के बच्चे एक ही स्कूल में जाएँ। अगर किन्हीं बच्चों को विशेष शिक्षा ही देनी है, तो वे सब आवासीय स्कूलों में ही रहें, जैसा कि अभी हर जिले में नवोदय स्कूल के मार्फत होने की बात है। इसी तरह हर ग्राम या आवास क्षेत्र व शहरी मुहल्लों में चिकित्सा के लिये एक ही तरह का प्रबन्ध होना चाहिये। धनी व शक्तिशाली जन भी इन स्कूलों व चिकित्सा केन्द्रों का इस्तेमाल करेंगे तो इनका स्तर सुधरेगा ही। भारत की परम्परागत चिकित्सा प्रणाली इत्यादि भी तब जीवित हो जायेगी।

इसी तरह रहने के घरों इत्यादि के विषय में सोचना होगा और स्थानीय सामग्री और रूपकारों के आधार पर ज्यादा से ज्यादा घर बनें, इस पर ध्यान देना होगा। हर घर में पानी, शौच इत्यादि की उचित व्यवस्था हो, इसका भी सोचना होगा। नहीं तो भारत के धनी क्षेत्र भी 'स्लम' ही बनेंगे। सरकारी तन्त्र के मार्फत जितने कम मकान भारत में बनें, उतना ही देश के लिये शुभ है। दस बीस बरस में तो सब सरकारी घर (चाहे उसमें मंत्री रहते हों व सरकारी अधिकारी) समाप्त होने ही चाहिये।

भारतीय 'आफिसर क्लास' द्वारा वृहद् भारतीय समाज की बुद्धि, प्रतिभा, विद्या, ज्ञान और सौन्दर्य-बोध एवं सुरुचि बोध से अपने को काट रखने के कारण उनमें एक आन्तरिक हीनता और दैन्य आया है तथा उनके जीवन में एक आन्तरिक प्रयोजनहीनता आई है। इस प्रयोजनहीनता का सबसे प्रकट रूप है अर्थशास्त्र को प्रधानता दिया जाना। अर्थशास्त्र सदा से राजनीति शास्त्र की एक अधीनस्थ विद्या है। वह सांस्कृतिक-राजनैतिक लक्ष्यों की सिद्धि का एक माध्यम है। राजनीति संस्कृति का अंग है, संस्कृति की सेवा के लिए है। संस्कृति का बोध इतिहास-परम्परा, दर्शन-परम्परा समेत समाज जीवन की समग्र परम्परा से होता है, समाज शास्त्र और राजनीति शास्त्र राजनीतितंत्र (पॉलिटी) के अंग हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र का स्थान संस्कृति में बहुत बाद में है। यह नहीं कि वह महत्त्वपूर्ण नहीं। पर वह लक्ष्य नहीं है, अनेक साधनों में से एक है। पूँजी और धन स्वयं में किसी के भी लक्ष्य नहीं होते। वे तो साधन ही होते हैं। प्राकृतिक साधन--स्रोत, उनके उपयोग और व्यवहार का कौशल तथा मानवीय बुद्धि के अन्य कौशल, हुनर और परिश्रम ही मूलभूत पूँजी हैं। उस पूँजी को क्या रूप दिया जाना है, यह किसी सभ्यता और समाज के बोध एवं लक्ष्यों पर निर्भर

है। उन लक्ष्यों का सहायक साधन है धन की वृद्धि व धन के व्यवहार, और उनका विचार करने वाला अर्थशास्त्र।

कार्ल मार्क्स ने अर्थशास्त्र को प्रमुखता दी क्योंकि कार्ल मार्क्स में बहुत गहरा और प्रबल यूरोपीय तथा ईसाई संस्कार, संवेग और बोध था। उस बोध और संस्कार के कारण कार्ल मार्क्स का मानना था कि सम्पूर्ण विश्व के लिए राजनैतिक लक्ष्य तो एक ही है और वह यूरोप के शासक वर्ग का राजनैतिक लक्ष्य ही है। शेष विश्व उन्हीं राजनैतिक लक्ष्यों की पूर्ति का औजार है। साधन सम्पत्ति है। इसलिए इस विश्व को औजार या सम्पत्ति के रूप में रहना है और सम्पत्ति-शास्त्र अर्थात् अर्थ--शास्त्र के नियमों से शासित होना है। वह एक तरह से संसाधन-शास्त्र है। यूरोपीय दृष्टि में समस्त मनुष्य तथा अन्य समस्त जीव एवं वनस्पति, वन, भूमि, जल, खनिज इत्यादि साधन-स्रोत शासकों के विचार और व्यवहार रूपी सभ्यता के संसाधन हैं। अर्थशास्त्र की प्रमुखता का यही अभिप्राय है। स्वयं मार्क्स के अपने जीवन में या कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के जीवन में अर्थशास्त्र प्रमुख नहीं होता, राजनीति ही प्रमुख होती है।

परन्तु भारत में यूरोप को बिना समझे अनुसरण करने वाले तथाकथित बुद्धिजीवियों का एक बड़ा ढेर तैयार हो गया है, जो अर्थशास्त्र को ही देश की प्रमुख विद्या मानता है। समस्त देश को अर्थशास्त्र से नियंत्रित रखना चाहता है। इसमें वह दास्य--भाव से भरी बुद्धि ही प्रमुख कारण है। यदि किसी व्यक्ति-विशेष की इसमें मुख्य भूमिका है तो वह जवाहरलाल नेहरू की है। जवाहरलाल नेहरू जैसे आदमी इस प्रकार के विचारों में पड़ गये, यह इसी तथ्य की निशानी है कि हम किस दशा में पहुँच गए थे, हमारी कितनी मानसिक-बौद्धिक गिरावट हुई होगी।

भारत को अब अपनी पुनर्योजना, सांस्कृतिक राजनीति को आगे रखकर, करनी होगी। इस पुनर्योजना में अर्थशास्त्र नियामक सिद्धान्त कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक सभ्यता में विविध अवधारणाओं की एक क्रम-व्यवस्था रहती है। किन्तु अर्थशास्त्र किसी भी सभ्यता में प्रमुख नहीं होता। अपनी सभ्यता से कटे हुए और यूरोपीय सभ्यता के मर्म से अनजान तथा उसके प्रति दास्य-भाव से भरे हुए भारतीय शासक वर्ग को ही अर्थशास्त्र प्रमुख दीखता है। यूरोपीय शासक वर्ग तो हमें अपनी सभ्यता का मानवीय संसाधन मानकर हमारे लिए अर्थशास्त्र को प्रमुख मानता रहा है। अब हमें अवधारणाओं के प्रधान-गौण-क्रम का यह उलट गया बोध फिर से व्यवस्थित करना होगा, उसे सही क्रम में समझना और रखना होगा।

इन विपरीतताओं का मुख्य कारण यह रहा कि हमारी विद्या-बुद्धि ही

छिन्न–भिन्न हो गई। हमारे अभिजनों और शासक वर्ग को विद्याओं की समझ ही नहीं रही। वृहत् समाज की विद्याएँ उसे अविद्या दीखने लगी। अब इस विपरीत मति को फिर से स्वस्थ, सहज बनाना होगा।

भारतीय किसान के पास अत्यन्त सम्पन्न विद्या–सम्पदा एवं विद्या परम्परा है। मिट्टी के विविध रूप, उनकी क्षमताएँ, उनकी आवश्यकताएँ, ऊपरी पपड़ी का स्तर, नमी का स्तर, उनकी सम्भावनाएँ, भूमि की जुताई की आवश्यकता का स्वरूप व स्तर, मौसम की जानकारी, वर्षा सम्बन्धी भिन्न–भिन्न रूपों और सम्भावनाओं की जानकारी, ठंड, पाला, कुहासा,धुंध, ओस, शीत–लहर आदि के रूपों और प्रभावों तथा उस सन्दर्भ में आवश्यक व्यवस्थाओं की जानकारी, घास और गर्मी सम्बन्धी जानकारी, हवा के भिन्न–भिन्न रूपों, रुखों, वेग और प्रभावों तथा उपयोग की जानकारी, सिंचाई संबंधी विविध रूपों और व्यवस्थाओं की जानकारी, बीज की किस्मों और सामर्थ्य का ज्ञान, फसल के अंकुरण, विकास, वृद्धि और पकने संबंधी विविध दशाओं का ज्ञान, कटाई–गुड़ाई–उड़ावनी, बीज और फसल के प्रबन्ध तथा भंडारण का ज्ञान, अलग–अलग अनाजों के गुणों और प्रभावों का ज्ञान, कृषि के उपकरणों संबंधी ज्ञान, अपने गाय–बैल, भैंस–बकरी की किस्मों, गुणों, सामर्थ्य, जरूरत, पोषण, रक्षण, प्रेम, अनुशासन आदि संबंधी ज्ञान, कुत्ते, बिल्ली, बन्दर, खरगोश, चिड़िया, तथा विविध पशु–पक्षियों संबंधी ज्ञान, शिष्टाचार और व्यवहार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म उनके अर्थों, उनके प्रभावों का ज्ञान आदि विस्तृत–गहरा ज्ञान किसान नर–नारियों को तथा अन्य ग्रामीण नर–नारियों को रहता है। यह हम सभी जानते हैं। ये सब विद्या के ही रूप हैं। आज मौसम आदि की जानकारी के लिए आसमान में जाने, बादलों का सूक्ष्म एवं अत्यंत महंगे उपकरणों से निरीक्षण आदि का विस्तृत तंत्र है, जिसमें राष्ट्रीय धन का बड़ा व्यय होता है। अतः किसानों की इस विद्या–सामर्थ्य का समादर किया जाना चाहिए कि वे बिना ऐसे भारी खर्च के ही यह विद्या सुरक्षित व गतिशील रखे हैं। भारतीय किसान नारियों एवं अन्य ग्रामीण नारियों को इन विद्याओं के अतिरिक्त उन अन्य महत्त्वपूर्ण विद्याओं का भी समृद्ध ज्ञान होता है, जो अधिकांश भारतीय नगरों की नारियों को भी होता है, यह भी हम सभी जानते हैं। विविध अन्नों, फलों, शाक, कन्द, मूल आदि तथा दधू, दही, घी, छाछ आदि के गुणों और प्रभावों का, उनके पकाने या बनाने के विविध रूपों और गुणों का ज्ञान, तेल, घी, मसाले आदि सम्बन्धी विस्तृत विद्या, घर, बर्तन तथा घरेलू सामान, घरेलू उद्यान, घर का परिवेश, घर की सुरक्षा और सज्जा आदि की विद्या, परिवार के विविध सदस्यों के साथ विविध प्रकार के व्यवहार की विद्या, लेन–देन, रख–रखाव, मान–उपेक्षा, आदि सम्बन्धी विस्तृत और गहरा ज्ञान, धर्म, उपासना,

रीति–रिवाज, व्रत–अनुष्ठान, अल्पना–रंगोली, सिलाई–कढ़ाई, स्वास्थ्य, स्वच्छता, घरेलू चिकित्सा संबंधी अनगिनत जानकारियाँ, बच्चों के पालन–पोषण की विद्या, समृद्धि में संयम और गरिमा तथा विपदा में धैर्य और गम्भीरता की विद्या तथा तेज, ये सब हमारी नारियों के सम्माननीय विद्यारूप हैं, जिसकी हम सभी को जानकारी है। स्मरणीय है कि प्रायः सभी धर्मग्रन्थों में कुलाचार और लोकाचार के बारे में अन्तिम निर्णय की अधिकारी घर की जानकार स्त्रियाँ ही मानी गई हैं। इसी प्रकार क्षेत्र के विविध लोकाचारों के बारे में अन्तिम अधिकारी उस क्षेत्र के जानकर शूद्र (साधारण जन) माने गये हैं। ये जानकारियाँ महत्त्वपूर्ण विद्याएँ ही हैं। आधुनिक विद्या संस्थाएं ऐसी जानकारियों के संग्रह, सम्पादन, विश्लेषण आदि में पर्याप्त धन व्यय करतीं और व्यक्तियों का श्रम लगातीं तो ये विद्याएं उभर आतीं।

ग्रामीण व परम्परागत शिल्पियों को लकडी, लोहा, चमड़ा, बाँस, सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा आदि विविध धातु, मणि–माणिक्य, हीरे, जवाहरात तथा रत्न, लाख, रेशम, ऊन, सूत और मिट्टी से संबंधित भिन्न–भिन्न कौशलों का ज्ञान और सामर्थ्य है ही। किसानों और ग्वालों, चरवाहों आदि को गाय–बैल, भैंस–बकरी, ऊँट, भेड़, घोड़े आदि से सम्बन्धित विस्तृत ज्ञान है। सूअर, कुत्ते, खरगोश आदि के बारे में विशेषज्ञता से सम्पन्न परिवार भी परम्परागत समाजों में हैं। तैराकी, नौका–चालन, तीरन्दाजी, खेल, व्यायाम, नट–कौशल, बाजीगरी आदि विद्याओं में समर्थ व निपुण व्यक्तियों की समाज में कमी नहीं यह भी हमें विदित ही है। चूस कर तथा अन्य तरीकों से विष उतारना, टूटी हड्डी को हड़ताल आदि जड़ी बूटियों से जोड़ देना तथा जड़ी–बूटियों, औषधियों के विस्तृत प्रयोग की विद्या हमारे यहाँ रही है। अब इन विद्याओं की पिछले १०–१२ वर्षों से कुछ चर्चा होने लगी है। आग पर चलने की विद्या के प्रति इधर कुतूहल बढ़ा है। ये सभी विद्याएँ समादरणीय हैं। इनके लिए वृहत् भारतीय समाज को पर्याप्त साधन–स्रोत सुलभ रहने देना चाहिए। ये साधन–स्रोत स्थानीय स्वायत्त इकाइयों के नियंत्रण में रहने देना चाहिए। राष्ट्रीय या प्रादेशिक केन्द्र के नाम पर ये स्रोत छीनने नहीं चाहिए, न इन पर मुट्ठी भर लोगों का नियंत्रण होना चाहिए। केन्द्रीकृत नियंत्रण से इन विद्याओं का विनाश ही होता है।

विद्या के इन विस्तृत विराट रूपों के प्रति सम्मान का अभाव और अवहेलना का भाव रखने के कारण हमारे अभिजनों और शासकवर्ग में विद्या–बुद्धि का ह्रास हुआ है, अविद्या और भ्रान्ति बढ़ी है। अब इन विद्या रूपों का महत्त्व समझ कर इनका समादर करना चाहिए तथा इनको पर्याप्त साधन–स्रोत उपलब्ध रहने देना चाहिए। इनकी उपेक्षा से राष्ट्रीय विद्या शक्ति का ही ह्रास होता है।

हमारी अध्यात्म (परा) विद्या के ग्रंथों तथा धर्मग्रंथों का भी गहराई से व्यापक अध्ययन आवश्यक है। इन पर फिर से विवेक बुद्धि से विचार कर इनकी व्याख्या करनी होगी। इस विषय में किन्हीं एक या कुछ प्राचीन विद्वानों के मत ही 'अन्तिम वचन' नहीं हैं। उनकी पुनर्व्याख्या आवश्यक है। पश्चिमी लोग तो इस विषय में मुख्य अधिकारी हो ही कैसे सकते हैं। जिस प्रकार हम पश्चिम के बारे में कितना भी जानें, पर पश्चिम के बारे में हमारा मत निर्णायक और अन्तिम कभी नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार कितना भी बड़ा या प्रसिद्ध विदेशी विद्वान हो, वह भारत के बारे में अन्तिम अधिकारी नहीं माना जा सकता।

अपने शास्त्रों, धर्मग्रंथों, अध्यात्म–साधना–ग्रंथों एवं पद्धतियों तथा सांस्कृतिक आदर्शों और व्यवस्थाओं का हमें विस्तृत ज्ञान प्राप्त कर उनके बारे में फिर से सोचना होगा और आवश्यक व्यवस्थाएं करनी होंगी। विद्या के ये सभी रूप हमारे राष्ट्रीय ज्ञान के विविध अंग हैं। ज्ञान विहीन तो संस्कृति हो ही नहीं सकती। इनके ज्ञान को जीवंत एवं व्यवस्थित तथा गतिवान रखना प्रमुख राजनैतिक लक्ष्य और कर्त्तव्य है। इनसे भिन्न कोई राजनीति वस्तुतः राजनीति नहीं है। सभ्यता के विविध विद्या–रूपों तथा कर्म रूपों को व्यवस्थित रखने तथा प्राणवान, प्रवाहमय रखने के अतिरिक्त और कुछ राजनैतिक कार्य हो ही क्या सकता है।

स्पष्ट है, यह राजनीति किसी एक केन्द्रीय 'कैडर' या समूह के द्वारा हो पानी असम्भव है और ऐसा प्रयास अपने ही राजनैतिक आदर्शों के विरुद्ध भी होगा। विविध स्वायत्त इकाइयों वाले, किन्तु परस्पर गहरी एकात्मता से सम्बद्ध राष्ट्रीय समाज द्वारा ही ऐसी राजनीति सम्भव है। दल तथा अन्य संस्थाएँ इस समाज के एक सामान्य अंग के रूप में ही हो सकते हैं। उसमें दलों का स्थान रहे या वह भूमिका अन्य रूप वाली प्रतिनिधि संस्थाओं को सौंपी जाय, यह निर्णय राष्ट्रीय समाज द्वारा होता रहेगा। संस्थाओं के रूप तो बदलते ही रहते हैं और फिर अनन्तरूपता तो हमारी जीवन–दृष्टि का मान्य तत्व है।

अपने राजनीतितंत्र (पॉलिटी) के पुनर्गठन की प्रक्रिया में हमें समाज की विविध इकाइयों के आज के सम्बन्ध बदलने होंगे तथा अपनी मान्यताएँ भी विवेक की कसौटी पर कसते रहनी होंगी। जिस प्रकार अभिजनों में वृहत् समाज से अपने सम्बन्ध की मान्यता विकृत हुई है, वैसी ही कई अन्य मान्यताएँ भी विकृत हुई हैं। परम्परागत मान्यताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ बढ़ी हैं तथा समझ गलत हुई है। भ्रान्ति को मिटाना होगा तथा समझ को सही करना होगा।

भारत में नर–नारी के बीच परस्पर आदर का जो सम्बन्ध रहा है,

वह भी पराजय के दौर में बहुत बिगड़ा है। एक तो नर और नारी का संसार अलग होता गया। पुरुष नये संस्कारों, नयी संस्कृति के प्रभाव में आते गये। स्त्रियाँ परम्परागत संस्कारों को जीवित रखे रहीं। इससे दोनों के मानसिक–बौद्धिक जगत् में अन्तर बढ़ता गया। वैसे जब दो भिन्न और बहुत कुछ परस्पर विपरीत सभ्यताओं का मिश्रण होता है, तो यह समस्या प्रायः आती है। विश्व के अनेक समाजों में यह स्थिति आती रही है। फिर जब दोनों का बोध–जगत् फिर से एक हो जाता है, तो फिर सम्बन्ध स्वस्थ और सामंजस्यपूर्ण हो जाते हैं। पश्चिमीकृत वर्ग में जो आधुनिक शिक्षा और संस्कारों को आत्मसात् कर चुके परिवार हैं, उनमें नर–नारी का बोध जगत् एक सा होने लगा है और इसीलिए उस तरह की तकलीफें वहाँ नहीं होतीं। व्यापक समाज में नर–नारी के बोध जगत् का यह आपसी अन्तर बढ़ता ही गया है। इससे स्त्रियों के कष्ट तो बढ़े ही हैं, पुरुषों के भी कष्ट बढ़े हैं। सर्वाधिक चिन्ता की बात यह है कि घरों में भी नर–नारी के मध्य बौद्धिक–वैचारिक–भावात्मक संवाद समाप्त हो चला है। बहुत सीमित बातचीत होती है। बौद्धिक मानसिक साझेदारी, जो सम्बन्ध का वास्तविक आधार है, समाप्त है।

अपने विद्या संस्कारों से कट जाने के कारण पुरानी अनेक मान्यताएँ बिलकुल गलत समझी जाने लगी हैं। शास्त्रों में अधिकांशतः जहाँ पुत्र की प्रशंसा है, वहाँ सन्तति से ही तात्पर्य है। उसमें पुत्री की भी प्रशंसा आ जाती है। परम्परा से भारत में पुत्रियों के प्रति भावना कम नहीं रही है, बराबर ही रही है। समाज के बिखराव के दौर में गलतफहमियाँ बढ़ीं और भ्रान्तियाँ फैलीं। पुत्र का अर्थ केवल 'पुत्र' समझा जाने लगा। इसी अवधि में दहेज भी एक रोग के रूप में फैलने लगा। दहेज का यह विकृत स्वरूप नई चीज है। अंग्रेजी राज के समय में ही फैला है। यह ऐतिहासिक तथ्य है। १७५0 के ब्रिटिश कथनों के अनुसार तो भारतवासी अंग्रेजों को कुछ तिरस्कार से ही देखते थे क्योंकि ब्रिटेन के बड़े परिवारों में दहेज की प्रथा काफी प्रचलित थी।

अब तो पढ़े–लिखे वर्ग में एक नयी प्रवृत्ति उभरी है। गर्भस्थ शिशु लड़का है या लड़की, इसका गर्भ–परीक्षण होने लगा है। लड़की होने पर उससे छुट्टी पा ली जाती है। इससे अधिक राक्षसी काम कुछ भी नहीं हो सकता। यह राक्षसी वृत्ति स्वयं समाज को खा जायेगी। इसका प्रचंड प्रतिरोध अत्यावश्यक है।

विविध परम्परा समूहों के मध्य बहुत हीनता आ गई है। उनका आपसी सम्बन्ध बिगड़ा है। विदेशी विद्वानों की व्याख्याएं ही हमारे शिक्षातंत्र में आप्तवचन मानी जाती हैं जिससे जाति तथा अन्य समुदायों के प्रति बोध विकृत हुआ है।

आधुनिक दास्य–भाव वाली मान्यताओं के प्रचार से सामाजिक कलह तीव्रतर होता जाता है। वास्तविक विद्या और ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान विस्तार ही इन समस्याओं का समाधान है। जातियों के मध्य आपसी कटुता, इतिहास के अज्ञान का फल है। जातियाँ समाज की स्वाभाविक इकाई रही हैं और यदि अब उस इकाई का स्वरूप भिन्न होता है तो उसका विचार–विमर्श और निर्णय सामाजिक बुद्धि, सामाजिक विमर्श एवं सामाजिक संवाद से ही हो सकता है। नवप्रबुद्ध वर्ग के अज्ञान को वृहद् समाज दिव्य ज्ञान के रूप में ग्रहण कर ले और अपनी बुद्धि तथा विवेक को तज दे, यह सम्भव नहीं है।

समाज और राजनीति का रूप और तंत्र क्या होगा, 'मॉडल' क्या होगा, यह निर्णय व्यापक भारतीय बुद्धि से ही होगा। पश्चिमीकृत समुदाय इसमें चिन्ता न करे, न इससे डरे। वृहत् भारतीय समाज में अधिक आत्मविश्वास आने की आवश्यकता तो है ही। आरम्भ में जो भी बनेगा, उसमें कमियाँ तो होंगी ही। फिर अनुभव और विचार से वह बदलता जायेगा। किन्तु 'मॉडल' परम्परा का ही होगा। और कोई रास्ता भी नहीं है। न कभी होता ही है।

जब व्यापक समाज अपना अंश प्राप्त कर स्वतंत्र ढंग से काम करेगा तब उसमें अपव्यय आदि भी होगा ही। पश्चिमीकृत वर्ग को अपना अपव्यय दिख नहीं पाता। वृहद् समाज से वह बहुत मितव्ययिता की अपेक्षा करता है।

भारतीय दृष्टि के अनुरूप हर क्षेत्र में संयुक्त संघ का, समुच्चय का, सबके प्रतिनिधित्व का ढाँचा ही उभरेगा। मुख्यतः स्वायत्त इकाइयों के महासंघ या महासागर जैसी स्थिति होगी, जिनमें एक अंतर्निहित एकता का बोध होगा। उसे ही बिखराव या असंगठन मान बैठने का डर छोड़ना होगा।

हमारे अभिजनों और शक्तिशाली जनों द्वारा पश्चिम का विमूढ़ अनुकरण एक पीड़ाप्रद दुर्घटना है। अविवेक और विमूढ़ता की यह स्थिति समाप्त करनी होगी तथा अपने भविष्य के लक्ष्य व दिशा के बारे में राष्ट्रीय बुद्धि से निर्णय लेना होगा। अनिर्णय, अज्ञान और आत्मविरोध की स्थिति किसी भी स्वाधीन समाज को शोभा नहीं देती और इस स्थिति में स्वाधीनता अधिक दिन टिक भी नहीं पाया करती।

अतः यह भटकाव त्यागना होगा। प्रमाद एवं अविवेक को विदाई देनी होगी। आन्तरिक हीनता दूर करनी होगी। अपने इतिहास का, अपनी परम्परा का स्मरण करना होगा, बोध प्राप्त करना होगा तथा आत्मबल एवं इच्छा को जगाना होगा। वही सार्वभौम और सनातन उत्कर्ष–पथ है, संस्कृति–पथ है, ऋजु–पथ है। उसी पथ को अपनाना होगा।